

अंक : १०२

अप्रैल-जून २००८

# कथाबिंब

कथापद्यान त्रैमासिक पत्रिका



आमने-सामने  
डॉ. सेराज खान वारिश्

सागर - सीपी  
निर्भयि महिलाक

१५  
रुपये

अप्रैल-जून २००८

(१९७९ से प्रकाशित)

# कथाबिंब

प्रधान संपादक  
डॉ. माधव सक्सेना "अरविंद"

संपादिका

मंजुश्री

संपादन सहयोग

प्रबोध कुमार गोविल

जयप्रकाश त्रिपाठी

अश्विनी कुमार मिश्र

हम्माद अहमद खान

संपादन-संचालन पूर्णतः

अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

● सदस्यता शुल्क ●

आजीवन : ५०० रु., त्रैवार्षिक : १२५ रु.,

वार्षिक : ५० रु.,

(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के

रूप में भी स्वीकार्य है)

विदेश में (समुद्री डाक से)

वार्षिक : १५ डॉलर या १२ पौंड

कृपया सदस्यता शुल्क

चैक (कमीशन जोड़कर),

मनी ऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट द्वारा

केवल "कथाबिंब" के नाम ही भेजें।

● रचनाएं व शुल्क भेजने का पता ●

ए-१० बसेरा, ऑफ दिन-कारी रोड,

देवनार, मुंबई- ४०० ०८८

फोन : २५५१५५४१, ९८१९१६२६४८

e-mail:kathabimb@yahoo.com

(कृपया रचनाएं भेजने के लिए ई-मेल का

प्रयोग न करें.)

प्रचार-प्रसार व्यवस्थापक :

सुभाष गिरी

फोन : ९३२४०४७३४०

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.

कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु

१५ रु. के डाक टिकट अवश्य भेजें।

(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

## क्रम

### कहानियां

॥ ७ ॥ डॉक्टर की फीस / माला वर्मा

॥ ११ ॥ धुआं-धुआं ज़िंदगी / डॉ. सूर्या राव

॥ १५ ॥ आश्रयदाता / कैलाशचंद्र जायसवाल

॥ १९ ॥ क्योंकि मैं एक स्त्री हूँ / डॉ. रंजना जायसवाल

॥ २३ ॥ एक कुर्बानी यह भी ! / डॉ. सरोज खान 'बातिश'

### लघुकथाएं

॥ १० ॥ मुक्ति / घनश्याम अग्रवाल

॥ ३७ ॥ सलमा / आनंद बिलथरे

॥ ४३ ॥ रखवाला / डॉ. 'दरवेश'भारती

॥ ४४ ॥ हम हिंदुस्तानी / घनश्याम अग्रवाल

### कविताएं / गज़लें

॥ १४ ॥ युद्ध / अजित श्रीवास्तव

॥ १८ ॥ और अभी कितने हैं दूर? / वेद व्यास

॥ ४२ ॥ गज़लें / देवमणि पांडेय, सतीश गुप्ता, कैलाश सेंगर

॥ ४३ ॥ बची है बहुत आस/ तेज राम शर्मा

॥ ४३ ॥ खुदा के घर गये हैं / जे. पी. टंडन 'अलौकिक'

### स्तंभ

॥ २ ॥ 'कुछ कही, कुछ अनकही'

॥ ४ ॥ लेटरबॉक्स

॥ २७ ॥ 'आमने-सामने' / डॉ. सरोज खान 'बातिश'

॥ ३१ ॥ 'सागर-सीपी' / निर्भय मल्लिक

॥ ३५ ॥ 'वातायन'

॥ ३७ ॥ 'बाइस्कोप'(सविता बजाज)/ शिवशंकर पिह्लै

॥ ३८ ॥ पुस्तक-समीक्षाएं

### आवरण चित्र : डॉ. अरविंद

(श्री भरत सिंह उद्यान, फतेहगढ़, उ. प्र. की एक झांकी.)

'कथाबिंब' मुंबई की 'संस्कृति संरक्षण संस्था' के सौजन्य से प्रकाशित होती है.

# कुछ कही, कुछ अनकही

एक बार फिर हम आपसे मुखातिब हैं। जीवन के उत्तरार्ध पर पहुंच कर यह ज़रूरी है कि शेष समय के लिए पुनः लक्ष्यों को निर्धारित किया जाये। “कथाबिंब” की शुरुआत के समय, लगभग तीस वर्ष पूर्व बिना ज़्यादा कुछ सोचे-समझे, बस एक मिशनरी भावना के तहत पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ किया था। पत्रिका चलाने का कोई खास अनुभव नहीं था। धीरे-धीरे अनेक लोग जुड़ते चले गये, कुछ लोग बिछुड़ भी गये लेकिन कारवां आगे चलता रहा। “आमने-सामने” और “सागर-सीपी,” कहना न होगा कि पत्रिका के दोनों स्थायी स्तंभों को समुचित प्रतिसाद मिला है। इन दोनों स्तंभों के माध्यम से हमारा यही प्रयास रहता है कि देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के संघर्षशील व प्रतिष्ठित साहित्यकारों से पाठकों का परिचय होता रहे ताकि उनके मानस में भी साहित्य-सृजन के अंकुर जन्म लें। यदि संभव हुआ तो निकट भविष्य में इन दोनों स्तंभों के अंतर्गत अब तक कवर किये गये आत्मकथ्यों और साक्षात्कारों को पुस्तकों के रूप में प्रकाशित किया जायेगा।

इस अंक की कहानियों पर कुछ चर्चा .... अंक की पहली कहानी “डॉक्टर की फीस” (माला वर्मा) बिना किसी लाग-लपेट के एक बहुत ही साधारण कथ्य को उठाती है लेकिन प्रस्तुतीकरण में कहीं-कहीं कथासम्राट प्रेमचंद की याद ताज़ा करा जाती है। - जगेसर एक बहुत ही ग़रीब आदमी है। पत्नी की बीमारी में वह डॉक्टर को घर ले तो आता है पर उनकी फीस नहीं दे पाता। डॉक्टर की लड़की की शादी में हाड़ तोड़ मेहनत कर जगेसर अंततः उन्मत्त हो जाता है लेकिन डॉक्टर ताज़िंदगी जगेसर का कर्ज़दार हो जाता है! उसी तरह डॉ. सूर्याराव की कहानी “धुआं-धुआं जिंदगी” भी एक अतिशय ग़रीब आदमी, खेलावन के जीवन की सच्चाई से परिचय कराती है। अपने परिवार के लिए परदेस में खेलावन अपनी जिंदगी दांव पर लगा देता है। अगली कहानी “आश्रयदाता” (कैलाशचंद्र जायसवाल) में एक बार फिर हम उसी आम आदमी से रू-ब-रू होते हैं। बस बदलता है तो केवल नाम - धनसिंह जिसे मरते दम तक वृद्धावस्था-पेंशन की पासबुक नहीं मिल पाती। डॉ. रंजना जायसवाल की कहानी “क्योंकि मैं स्त्री हूँ” पति द्वारा छोड़ दिये जाने और दूसरी शादी कर लेने पर अपने पैरों पर खड़ी होने वाली एक औरत की कहानी है। लेकिन उसका लड़का सोनू पति के पास ही रहता है। वह चाहती है कि कम से कम पुत्र तो उसके हृदय की बात समझे, लेकिन ऐसा क्योंकि संभव है ! अंतिम कहानी “एक कुर्बानी यह भी !” के माध्यम से सेराज खान “बातिश” ने मुसलमानों में प्रचलित पशु-बलि के संबंध में एकदम से नयी रोशनी डाली है। आशा है लेखक के क्रांतिकारी विचारों का सब ओर स्वागत होगा। - पिछले अंक की तरह, इस बार भी मात्र सुश्री माला वर्मा को छोड़कर अन्य रचनाकारों की कहानियां “कथाबिंब” में पहली बार जा रही हैं।

पिछले अंक के कथाकार श्री राजेंद्र पांडे (बस, चाय का दौर था और चर्चाएं थीं...) का २० जुलाई ०८ प्रातः ५.३० बजे, मुंबई के एक अस्पताल में बड़ी विषम परिस्थितियों में निधन हो गया। उस समय, उनके पास कोई सगा-संबंधी नहीं था। पत्नी को भी मलेरिया हुआ था और वे कई दिनों से एक दूसरे अस्पताल में भर्ती थीं। इस तरह उनसे तुरत संपर्क नहीं हो सका। किसी तरह कुछ मित्र लेखकों को जानकारी मिली और उन्होंने ही अंत्येष्टी संपन्न करवायी। “कथाबिंब” परिवार की ओर से भाई राजेंद्र पांडे को श्रद्धांजली।

इधर कुछ दिनों से राजनीतिक समीकरण बहुत तेज़ी से बदले हैं। प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह द्वारा अपनी जापान यात्रा के दौरान दिये गये, भारत-अमरीका न्यूक्लीय करार संबंधी वक्तव्य का बहाना बना कर वामपंथियों ने सरकार से समर्थन वापस ले लिया और सरकार अल्पमत में आ गयी। तत्पश्चात्, बिना कोई समय खोये समाजवादी पार्टी ने मनमोहन सिंह को अपनी बैसाखी थमा दी और छपते-छपते खबर मिली है कि नये गठबंधन ने विश्वासमत प्राप्त कर लिया है। २२ जुलाई २००८ का दिन भारत के इतिहास में सुनहरे अक्षरों में लिखा जायेगा या एक “काला-दिन” कहलायेगा यह तो भविष्य के गर्भ में छिपा हुआ है। किंतु विश्वासमत प्राप्त करने के लिए जिस तरह के हथकंडे उपयोग में लाये गये उसके समक्ष नरसिंहा राव के समय हुई सांसदों की खरोद-फ़रोख़्त के लिए एक-एक करोड़ की राशि दिये जाने की घटना बहुत “छोटी” लगने लगी है। आज फिर वे ही गुरु जी दुकान लगाये बैठे हैं। मुद्रास्फीति ने पाला बदलने की कीमत आज ४०-५० करोड़ कर दी है। साथ में यदि किसी के पिता जी के नाम पर हवाई अड्डे का नामकरण या फिर मनचाहे मंत्रालय का आश्वासन यदि आपके पक्ष में मत डलवा सकता है तो क्या बुरा है ? “अमरीकी आकाओं को खुश करने के लिए डील के नाम पर हम कुछ भी करेगा।” भारतवर्ष की संसद भवन में चल रहे विश्वासमत वी बहस पर अमरीका बराबर नज़र रखे था। वहां से, बहस के दौरान वक्तव्य आया कि मनमोहन सिंह की सरकार अगर अल्पमत में भी आ जायेगी तो भी करार की प्रक्रिया जारी रहेगी। इस पूरे प्रकरण में ऐसा दर्शाया जा रहा है कि जैसे ही परमाणु करार को अंतिम रूप दिया जायेगा भारत के गांव-गांव में बिजली आ जायेगी। बिजली, पानी और सड़क के साथ हमारी सभी मूलभूत समस्याओं का निराकरण हो जायेगा और एक नये भारत का निर्माण होगा। कुछ इसी आशय के पूरे पृष्ठों के विज्ञापन अखबारों में देखने में आये। यह बिल्कुल वैसा ही कि एक झूठ को यदि आप बारबार दोहराये तो वह “सच” कहलाने लगता है।

१८ जुलाई २००५ को जब बुश और मनमोहन सिंह ने १२३ अनुबंध पर हस्ताक्षर किये थे तबसे विश्वासमत्त से पूर्व तक कई बार मांग की गयी कि इस मसले पर पूरी बहस होनी चाहिए. यह करार क्या मात्र दो व्यक्तियों के बीच है, या दो जनतांत्रिक देशों के मध्य ? जबकि यह लगभग निश्चित हो गया है नवंबर में होने वाले अमरीकी चुनावों में बुश महोदय की पार्टी हारने वाली है तो इतनी हड़बड़ी क्यों ? अलग-अलग कारणों से सरकार को समर्थन देने वाले वामपंथी और विपक्षी दल करार का विरोध करते रहे हैं. आज संविधान ने हर नागरिक को “सूचना का अधिकार” दिया है. तो क्या इतने दूरगामी प्रभाव वाले अनुबंध के बारे में जानकारी देने का दायित्व सरकार का नहीं बनता ? तमाम बहस-मुबाहसों के बीच जो प्रमुख प्रश्न उठने चाहिए, दरअसल उन्हें कोई पूछ ही नहीं रहा है. ऊर्जा सुरक्षा की बात करना सही है, किंतु करार के पश्चात प्राप्त न्यूक्लीय ऊर्जा क्या सालों से चली आ रही हमारी बिजली की कमी को पूरा कर सकती है, यदि हां, तो कब तक ?.... २०१०, २०२० या २०५० ? वर्तमान में, देश के सभी न्यूक्लीय बिजली संयंत्रों की कुल उत्पादन क्षमता ४००० मेगावाट के आसपास है जो भारत की कुल विद्युत उत्पादन क्षमता का मात्र ३ प्र. श. है. न्यूक्लीय ईंधन की कमी के कारण सभी रिएक्टर आधी क्षमता पर काम कर रहे हैं. करार की प्रक्रिया पूरी हो जाने के बाद, जिसमें अभी लगभग एक वर्ष और लगेगा, ईंधन मिलने पर पूर्ण क्षमता पर संयंत्र चला कर भी हम मात्र २०००मेगावाट विद्युत ही प्राप्त कर पायेंगे. इसी संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि केवल महाराष्ट्र में, वर्तमान में, ४-५००० मेगावाट की कमी पिछले कई सालों से चली आ रही है. किसी भी नये न्यूक्लीय बिजली घर की नींव रखने से लेकर उत्पादन होने में कम से कम दस वर्ष का समय लगता है. हमारी बिजली की आवश्यकता दिन-दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है. इसका अर्थ यह हुआ कि निकट भविष्य में देश को लोडशेडिंग से निजात पाना मुश्किल है. कम से कम न्यूक्लीय ऊर्जा इसका विकल्प नहीं हो सकती. विदर्भ की कलावती और शशिकला के बच्चों के बच्चों को भी लालटेन की रोशनी में ही अपनी पढ़ाई करनी होगी.

सबसे पहले हमें प्रश्न करना चाहिए था कि पिछले ५०-६० सालों में हमने कितने अरब रुपये न्यूक्लीय ऊर्जा उत्पादन में लगाये और हमें कितनी बिजली प्राप्त हुई ? पोखरन-१ के समय से ही हमारे ऊपर प्रतिबंध लगे हुए थे फिर भी, वर्ष २००० तक १०,००० मेगावाट का लक्ष्य किस आधार पर निर्धारित किया गया. जादुगुड़ा व मेघालय में उपलब्ध यूरेनियम भंडारों से बड़े पैमाने पर उत्खनन करने में आयी कठिनाइयों को क्यों नहीं दूर किया गया ? जिस तरह से कोयला और तेल जीवाश्मी ईंधन हैं और ५०-१०० सालों में खतम हो जायेंगे तो क्या धरती के भीतर यूरेनियम की मात्रा असीमित है ? और जबकि प्राकृतिक यूरेनियम में उपलब्ध मात्र ०.७२ प्र. श. सम-स्थानिक का संवर्धन करके ही विद्युत उत्पादन करना संभव होता है. न्यूक्लीय ऊर्जा को जितना निरापद और स्वच्छ बताया जा रहा है इसमें भी सच्चाई नहीं है. परमाणु बिजली घर में इस्तेमाल होने पर ईंधन में कुछ ऐसे विकिरणशील समस्थानिकों का निर्माण होता है जो हजारों सालों तक रेडियोसक्रिय बने रहते हैं. इनको धरती में दफनाने के अलावा इनसे निपटने का कोई तरीका नहीं है. ऐसे में, भविष्य में, किसी भी प्रकार की दुर्घटना लाखों लोगों की जान लेने का कारण भी बन सकती है. आज देश में कहीं भी बम विस्फोट होता है किसी आतंकवादी संगठन की धमकी मिलती है तो सभी न्यूक्लीय संस्थानों की सुरक्षा कड़ी करना आवश्यक हो जाता है. अधिक न्यूक्लीय संयंत्र लगने से हमारे लिए खतरा और बढ़ जायेगा और इन संयंत्रों के लिए जमीन के अधिग्रहण के समय क्या नंदीग्राम और सिंगरूर जैसा विरोध नहीं होगा ? अभी हाल में, मई ०८में, चीन में आये भूकंप के समय न्यूक्लीय रिसाव की घटना ताजी-ताजी है. इससे पूर्व पिछले वर्ष, मार्च में जापान में रिएक्टर में न्यूक्लीय क्षरण हुआ था. अमरीका की श्री-माइल और रूस की चेर्नोबिल की घटनाओं की भी अनदेखी नहीं की जा सकती. ईरान, तुर्की और उत्तरी कोरिया पर अमरीका निरंतर न्यूक्लीय गतिविधियों को बंद करने के लिए दबाव डाल रहा है तो भारत के साथ करार के लिए तत्पर क्यों ? पूर्व में वियतनाम, संयुक्त रूस के विघटन, खाड़ी युद्ध, ईराक़ी हमला और अफ़गान में मौजूदगी से हमारे कान खड़े हो जाने चाहिए थे. अमरीका भारत का सगा कैसे हो गया ? कहीं कोई षडयंत्र तो नहीं ! इस अनुबंध के माध्यम से अमरीका एक तीर से कई निशाने साध रहा है. पिछले ३० वर्षों से अमरीका के पास संवर्धित यूरेनियम का भंडार जमा हो गया है. वहां यह उद्योग बंद होने के कगार पर है. आने वाले समय में, अमरीका संलयन रिएक्टरों से बिजली प्राप्त करेगा. आज भारत की आर्थिक स्थिति थोड़ी बेहतर है तो उसका उपयोग बाज़ार के रूप में किया जा सकता है, करार के बाद, भारत की न्यूक्लीय गतिविधियों की पूरी-पूरी जानकारी निरंतर मिलती रहेगी और प्राप्त होगी इस भू-भाग में एक स्थायी उपस्थिति. अलग से एनपीटी और सीटीबीटी पर हस्ताक्षर कराने की भी आवश्यकता समाप्त. ईस्ट इंडिया कंपनी के नाम पर जगह मांगकर अंग्रेजों ने ३०० साल राज्य किया. अनुबंध पर किये हस्ताक्षर की काली स्याही हमें कितनी शताब्दियों तक बंधक बनाकर रखेगी, क्या कोई इसका अनुमान लगा सकता है ? अपनी योजना के पहले चरण में बुश महोदय को उसी दिन सफलता मिली जब रास्ते में रोड़े अटकाने वाले चीनी हितैषी वामपंथियों ने समर्थन वापस लिया.

●  
भारत एक शांतिप्रिय देश है. न हमें पोखरन-३ करना चाहिए और न ही भारत को तीसरे विश्व युद्ध का मोहरा बनना चाहिए. भारत को आगे बढ़कर ऐसी स्थितियां उत्पन्न करनी चाहिए कि सार्क गुट के सभी देश मिलकर योरप की तरह एक आर्थिक फेडरेशन बनायें, साथ ही सेनाओं पर होने वाला व्यय कम से कम किया जा सके. उग्रवादी व आतंकवादी घटनाओं पर पूर्ण नियंत्रण पाना भी हमारी पहली प्राथमिकता होनी चाहिए

# लेटर बॉक्स

\* जनवरी-मार्च ०८ का अंक मिला. 'कुछ कही, कुछ अनकही' में आपने बहुत कुछ कह दिया है. वस्तुतः राजनीति का घाट ही कुछ इस तरह का है जहां अंदर बाहर की सारी गंदगी एकत्रित होती है. राजनीतिज्ञों को सिर्फ कुर्सी का ख्याल रहता है. जनता से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं. देश एक ऐसे संक्रमण काल से गुजर रहा है जहां चारों तरफ अनेक समस्याएं मुंह बाये खड़ी हैं. लेकिन उनके निदान की ओर कोई सार्थक प्रयास नहीं है.

पत्रिका की समस्त कहानियां एक से बढ़कर एक हैं. राजेंद्र वर्मा की 'रोशनीवाला' ने काफ़ी उद्वेलित किया है. लघुकथाएं भी प्रेरक हैं. 'सागर/सीपी' व 'आमने-सामने' स्तंभ काफ़ी रोचक लगे.

एक स्तरीय पत्रिका प्रकाशित करते रहने में आपके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता. 'कथाबिंब' के प्रकाशन के तीसवें वर्ष पर आपको बधाई. पत्रिका दिनों-दिन उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होती रहे इसके लिए कामना करते हैं.

## \* राम सहाय वर्मा,

सं. 'मकरंद', बी-१४, सेक्टर-१५, नोएडा-२०१३०१

\* 'कथाबिंब' का जनवरी-मार्च अंक प्राप्त हुआ. संपादकीय कई ज्वलंत प्रश्नों को उठाने में सफल रहा है. एक तरफ भारत विकसित देशों की कतार में खड़ा है तो दूसरी ओर उसी देश में भुखमरी और गरीबी अभी भी मुंह बाये खड़ी है. संपादकीय में तटस्थता व निष्पक्षता से स्पष्ट किया गया है कि किस कद्र हमारे कर्णधार विवश हैं और वे कठपुतली की तरह चलायमान हैं. भारत की सेकुलरवादी छवि पर भी संपादकीय प्रश्न उठाता है. तिब्बत के मामले व तसलीमा नसरीन के विवाद में भारत सरकार की तथाकथित धर्मनिरपेक्षता का भंडाफोड़ हुआ है. संपादकीय प्रशंसनीय है क्योंकि वह बेहद आवश्यक विषयों को उठाता है. चूंकि पत्रिका कथा साहित्य को समर्पित है, प्रस्तुत अंक में शामिल सभी कहानियां प्रभावी हैं. पहली ही कहानी 'हे राम' इक्कीसवीं सदी के युगीन परिवेश में आयी विकृतियों में से एक मुख्य विकृति को मनोरंजक ढंग से उठाती है. एक कॉलोनी में फैली गंदगी के माध्यम से पूरे देश में फैली गंदगी पर करारे प्रहार किये गये हैं. भागीरथ बाबू एक प्रभावशाली चरित्र हैं. उनका व्यक्तित्व व कृतित्व आदर्शवादी है. 'क्या हम अपने बच्चों को ऐसा गंदा समाज विरासत में देंगे? अब इस गंदगी को साफ़ करना ज़रूरी हो गया है...' इन पंक्तियों में एक तरफ जहां मूल्यविहीन समाज की पोल खोली गयी है वहीं नयी पीढ़ी के प्रति चिंता भी जाहिर की गयी है. निसंदेह आधुनिकता व भौतिकता की दौड़ में समाज एक ऐसी अंधी गुफा की ओर अग्रसर है, जिसका प्रवेश द्वार तो भली-भांति दिखाई देता है परंतु निकास

की संभावनाएं कम ही हैं. 'यह वह समय था जब पूरा युग गंदगी व बदबू से सना पड़ा था....' अनुच्छेद में स्वतंत्र भारत की उस तस्वीर को अनेक 'ऐंग्लस' से प्रस्तुत किया गया है जिस पर हम गौरवान्वित हैं. निसंदेह कहानी प्रशंसनीय है, एक बेहद ज़रूरी प्रश्न को उठाने में सक्षम है. मंगला रामचंद्रन की कहानी सज़ायापता में रिशतों के खोखलेपन, संवेदनहीनता व कर्तव्यबोध के अभाव का चित्रण है. बेटे की नादानी व पिता का पत्र दोनों पीढ़ीगत वैचारिक अंतर को दर्शाते हैं. 'बच्चे पैदा करने से तो अच्छा है साग-भाजी पैदा करें, काम तो आती है,' पंक्तियों में निहित भावार्थ बेहद बेचैन करने वाला है. ये पंक्तियां सामाजिक व नैतिक रूप से समाज में पनपी विसंगति व विडंबना पर करारी व्यंग्यात्मक चोट करती हैं. राजेंद्र पांडे की कहानी प्रशासनिक अधिकारियों की कार्यप्रणाली को मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत करने में सफल रही है. 'मध्यांतर' व 'रोशनीवाला' कहानियां भी अच्छी लगीं.

## \* कृष्ण कुमार भारतीय

विनायक भवन, अनाज मंडी कलायत,

जिला कैथल, हरियाणा-१३६११७

\* 'कथाबिंब' (जन.-मार्च-०८) की प्रति मेरे सम्मुख है. संपादकीय में छिबरामऊ के उस यादगार कार्यक्रम का उल्लेख, पृष्ठ-५२ पर संबंधित समाचार तथा आवरण-३ पर फोटो नं.४ देखकर आपके सानिध्य-सुख की स्मृतियां ताज़ा हो गयीं. लघुकथा 'चौथा स्तंभ' से भाई अखिलेश कुमार की 'कोना भर धूप' याद आ गयी. साबिर भाई को बधाई. कृष्ण शर्मा की 'हवाएं' समसामाजिक संदर्भ में फिट बैठती है. शायद राज ठाकरे को कुछ सदबुद्धि मिल जाये इसे पढ़कर. सुषमा जी की 'उम्मीद' तो है ही एक अच्छी रचना. गज़लों में केशव शरण, विनय मिश्र तथा शकूर भाई को बधाई. विनय मिश्र की दो गज़लें अलग-अलग पृष्ठ पर नहीं छापनी चाहिए थीं. एक साथ रहतीं तो बेहतर था. किसी अच्छी रचना को 'फिलर' के रूप में लटका देखकर पीड़ा होने लगती है. 'लेटर बॉक्स' स्तंभ के अंतर्गत भाई अरविंद कुमार पाठक का पत्र पढ़कर प्रसन्नता हुई कि इतने रसज्ञ एवं सुधी पाठक 'कथाबिंब' को प्राप्त हुए हैं. पाठक जी, आप इतने मनोयोग से पढ़कर पत्र लिखते हैं, यह आपकी साहित्यिक निष्ठा एवं समर्पण का प्रतीक है. आपने अब तक लगभग ५०० दिन में १००० पत्र लिखे जिसमें आपको केवल १०% पत्रों के जवाब मिले. इससे एक बात तो साफ़ है कि शेष ९०% लोग आपकी भावनाओं का सम्मान नहीं कर सके. ऐसे लोग निंदनीय हैं. लेखक बंधुओं, यदि कोई रसज्ञ पाठक प्रशंसा पत्र लिखता है, तो आपका नैतिक दायित्व है कि उसके पत्र का यथासमय जवाब अवश्य दें. यदि



आप व्यस्तता का बहाना बनाकर आलस्य-गुहा में सोते रहेंगे तो कोई आपको पत्र क्यों लिखेगा? सोचिएगा...!!

### ❖ जितेंद्र 'जौहर'

एन-३३/६, रेणुसागर, सोनभद्र (उ.प्र.) २३१२१८

\* 'कथाबिंब' का जनवरी-मार्च अंक मिला. पूरा पढ़ा. 'हे राम' (सुशांत प्रिय) गांधीजी की, आज के समय में प्रासंगिकता पर प्रश्न चिन्ह लगाती अच्छी कहानी है जो गांधीजी के देश में लोगों का उनके प्रति दृष्टिकोण स्पष्ट करती है. बुढ़ापे में बुजुर्गों की दशा एवं दिशा पर लिखी 'सजायाफ्ता' (मंगला रामचंद्रन) बहुत ही अच्छी कहानी है तो 'बस चाय का दौर था और चर्चाएं थीं' (राजेंद्र पांडे) राजनेताओं और अधिकारियों के चरित्र का यथार्थ प्रस्तुत करती है. साथ ही 'मध्यांतर' (डॉ.वी.रामशेष) एक यथार्थवादी एवं समाज का स्वार्थी चेहरा प्रस्तुत करती रचना है. वहीं 'रोशनीवाला' (राजेंद्र वर्मा) ने भी प्रभावित किया. इनके अलावा सभी लघुकथाएं अच्छी एवं सार्थक हैं जिनमें 'चौथा स्तंभ' (साबिर हुसैन) एक ईमानदार एवं स्वाभिमानी पत्रकार की सार्थक किंतु प्रभावपूर्ण एवं बेहतरीन लघुकथा है.

उपर्युक्त के आलोक में, अंक की सभी रचनाएं अच्छी एवं सार्थक हैं और आपका संपादन एवं चयन स्वागतयोग्य. आशा है भविष्य में भी सार्थक एवं अच्छी रचनाएं पढ़ने को मिलेंगी.

### ❖ डॉ. पून सिंह

१५२/११९, पक्की ढक्की, जम्मू (जे.एंड.के.) १८०००१

\* 'कथाबिंब' के नये अंक में संपादकीय पढ़कर आपके स्पष्ट वक्तव्य से रू-ब-रू हुआ. आई.पी.एल.की तरफ इशारा करके देश के खेल जगत (क्रिकेट) में होती धन वर्षा से भीगते खिलाड़ियों और कुबेर अभिनेताओं की आपने पोल खोल दी है. यह शर्मनाक स्थिति है इस देश के लिए. जहां गरीबी से जूझती असहाय जनता को भरपेट खाने को मयस्सर नहीं है, वहां इस तरह की खिलवाड़ हरकतें हास्यापद हैं.

खासतौर पर मीडिया वालों ने नाकों दम कर रखा है. पूरी नृत्य और गायन की बढ़ती लोकप्रियता को भुनाने में जनता को सस्ते रास्ते से भेड़ियों की तरह हांकने में कोई कसर नहीं छोड़ी है. नये और किशोर लड़कों को सस्ती लोकप्रियता में फंसाकर गलत दिशा की ओर दृश्य-मीडिया वाले ले जा रहे हैं. पता नहीं, इन किशोरों का भविष्य क्या होगा? प्रतिभाविहीन अभिनेता खान साहब, पैसे के बल पर 'किंग खान' से विभूषित किये जा रहे हैं. तुरंत यह कि ये देश का उद्धार कर रहे हैं. एक पूरा सिंडीकेट नकली को असली बनाने में लगा है.

### ❖ सिद्धेश,

श्रीपुर, मध्यमग्राम बाजार, कोलकाता-७००१३०

\* 'कथाबिंब' का जन.-मार्च ०८ अंक मिला. इस अंक में गत दिसंबर में छिबरामऊ में आयोजित सम्मान समारोह के चित्र व समाचार देखकर, उस अवसर पर छिबरामऊ न पहुंच पाने और आप सबसे भेंट न कर पाने का दुख फिर उभर आया. मैं सूरत के एक कार्यक्रम में भाग लेकर उसी दिन लौट रहा था और ट्रेन लेट होने के कारण रास्ते में था. अतः चाहकर भी नहीं पहुंच सका. बहरहाल, आपके स्नेह और आत्मीयता का कायल हूं कि आपने कार्यक्रम के दौरान मुझसे फोन पर बात की. फिर कभी संयोग हुआ तो आपसे अवश्य मिलूंगा.

'कथाबिंब' के इस अंक में 'सागर-सीपी' में डॉ. तिलकराज गोस्वामी की सृजन यात्रा का विवरण तथा 'आमने-सामने' में राजेंद्र वर्मा का आत्मकथ्य महत्वपूर्ण हैं. नये रचनाकारों के लिए तमाम प्रेरणादायक तथ्य हैं इनमें. सुशांत प्रिय की कहानी मौजूदा भ्रष्ट तंत्र पर करारा प्रहार करती है. इस कहानी को पढ़ते हुए उदय प्रकाश की 'मोहनदास' कहानी की याद हो आती है. 'सजायाफ्ता' और 'मध्यांतर' कहानियां भी अपनी तरह से प्रभाव छोड़ती हैं. विनय मिश्र तथा शकून अनवर की गज़लें, राही शंकर तथा गिरीशचंद्र श्रीवास्तव की कविताएं भी रेखांकित किये जाने योग्य हैं. सुंदर संपादन के लिए बधाई.

### ❖ जय चक्रवर्ती

एम १/१४१, जवाहर विहार, रायबरेली २२९०१०

\* 'कथाबिंब' का जुलाई-दिसं.०७ अंक काफ़ी पहले मिल गया था. प्रतिक्रिया देर से दे रहा हूं. अंक की सभी रचनाएं अच्छी लगीं. संपादकीय में एक भारत में कितने भारत की जो बात आपने कही है यह कोई सच्चा राष्ट्र-चितेरा ही कर सकता है. मुस्लिम तुष्टिकरण का बीज तो अंग्रेजों के काले कालखंड में ही बोया गया था, जिसका वीभत्स परिणाम भारत विभाजन और पाकिस्तान का जन्म हुआ. हमने शांतिप्रियता, उदारता की आड़ में अपनी कायरता को छुपा कर अपनी पीठ खूब थपथपायी और नतमस्तक होकर खंडित स्वतंत्रता को स्वीकार कर एक दूजे को बधाइयां दीं. आज़ादी का जश्न मनाया. उसके बाद हर चुनाव में मुस्लिम तुष्टिकरण का घिनौना खेल जारी रहा. आज तुष्टिकरणवादियों के रक्तबीज छोटी-बड़ी पार्टियां बनाकर वोट बैंक के लिए हर ग्राम-नगर में तुष्टिकरण की प्रचंड आग लगा रहे हैं. दूसरी ओर भोले-भाले हरिजन, आदिवासियों, गिरिजनों का छल-बल-धन से धर्मांतरण हो रहा है. यह भारत के लिए अत्यंत दुखद व दुर्भाग्यपूर्ण है. कदाचित भविष्य के लिए भयंकर और खतरनाक भी.

असीम दुख व आक्रोश तब और अधिक होता है जब छल-छद्म-प्रपंची चंद नेताओं की तरफ से कुछ मीडियाकर्मी, कुछ कलमकार-कलाकार और कुछ पत्र-पत्रिकाएं भी इस आग में घी डालकर देश को जलाने का कुकर्म करते हैं और कुतर्क देते

हुए निर्लज्जता से गाल बजाते हैं। ऐसी विकट परिस्थितियों में आप की कलम अंधेरे को चीरने वाली किरण दृष्टिगोचर हो रही है।  
कोटिशः साधुवाद!

❖ **राजीव नयन तिवारी,**

द्वारा कार्या. सुंयक्त निबंधक, सहयोग समितियां,  
दुमका (झा.खं.) ८१४१०१

\*‘कथाबिंब’ का जन.-मार्च०८ अंक मिला. पूरा पढ़ा, पुनः पुनः पढ़ूंगा. पत्रिका उत्तरोत्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर है. कलेवर एवं साज-सज्जा सब कुछ बढ़िया. दोहराव के कारण टी.वी.के दर्शन का चाव चरम से कुछ नीचे की ओर खिसक रहा है. दर्शक अपने आपको ठगा-सा महसूस करने लगे हैं. कुछ दिनों बाद, त्रस्त होकर लोग पुनः छपे हुए शब्द की ओर लौटेंगे. पुनः पाजामा, कुरता, गांधी-झोली और उसमें किताबों का ज़माना आयेगा. समय काटने के बजाय लोग समय का सदुपयोग करने लगेगे. यह एक सकारण आशा है. आशावाद ही हमारा वाद है. हमें प्रसन्नता है कि सारा विश्व हमारे वाद को स्वीकार करता है. यह बात अलग है कि आशावादी अधिकांशतः दुख भोगते हैं.

‘कथाबिंब’ का पाठक होना सौभाग्य है और मैं सौभाग्य शाली हूँ. कहानी, लघुकथा व कविता, गीत, गज़लों को लेकर चलने वाली यह पत्रिका कठिनाई के कांटों के बीच अपनी राह तलाशती हुई, अब राजमार्ग पर आ गयी है. सब कुछ अच्छा है. चले चलो. स्वर्णिम प्रभात प्रतीक्षारत है. मेरी शुभकामनाएं-

“बाग की सुंदरता चयन पर निर्भर करती है,  
वैसे तो वनों से पटी यह धरती है.”

❖ **अमरलाल सोनी,**

सिविल लाइन्स, मनेंद्रगढ़ (कोरिया) ४९७४४२

\*‘कथाबिंब’ का जन-मार्च०८ अंक पढ़ा. अंक की सर्वश्रेष्ठ कहानी है ‘हे राम!’ (सुशांत प्रिय). विषय पुराना होते हुए भी यह गांधीवादी विचारधारा की कहानी है. एक बेचारा बूढ़ा जो मुहल्ले की सफ़ाई कर रहा है, लोग उसे पागल समझकर दुल्कार रहे हैं. यह मुहल्ला पूरा देश भी हो सकता है. मंगला रामचंद्रन की कहानी ‘सज़ायाफ़ता’ ने भी कुछ सोचने पर मजबूर किया. “बस, चाय का दौर...” (राजेंद्र पांडे) को कहानी मानना जरा मुश्किल है. यह बस एक बचकानी बातचीत है. ‘मध्यांतर’ (डॉ.रामशेष) इस अंक की एक और श्रेष्ठ कहानी कही जा सकती है. कार्यालय के एक व्यक्ति के मरने के उपरांत किस तरह की टिप्पणियां लोग करते हैं, क्या-क्या सोचते हैं. वाकई कहानी काबिले तारीफ़ है. ‘आमने-सामने’ में राजेंद्र वर्मा ने अच्छे तरीके से अपनी बात कही मगर कहानी ‘रोशनीवाला’ में वे अधिक रोशनी नहीं डाल पाये. श्री तिलकराज गोस्वामी जी ने हर प्रश्न का उत्तर संतुलित ढंग से दिया है. साबिर हुसैन और कृष्ण शर्मा की लघुकथाएं भी आश्वस्त

करती हैं. कविताओं में शकूर अनवर की गज़लें बहुत प्रभावित करती हैं. समीक्षाएं हर बार की तरह मंजी हुई हैं.

❖ **रमेश मनोहरा,**

शीतला गली, जावरा, रतलाम (म.प्र.) ४५७ २२६

\*‘कथाबिंब’ का जन.-मार्च ०८ अंक प्राप्त हुआ.

आवरण पृष्ठ पर जापान के मियाजिमा द्वीप या कहें कि पूजा-स्थलों के द्वीप के इत्सुकुशिमा मंदिर के लकड़ी के द्वार का चित्र और अंदर संपादक जी के उत्तर भारत के प्रवास की कुछ झलकियां पत्रिका में चार चांद लगा रही हैं. संपादकीय का तो जवाब नहीं. प्रत्येक कहानी का भी अपना अनूठा स्वाद है. फिर भी राजेंद्र वर्मा की कहानी सर्वश्रेष्ठ रही. यह एक ऐसी व्यक्ति की कहानी है जो पढ़ाई में अच्छा होने के बावजूद, गरीब होने के नाते अपनी ज़िंदगी रोशन नहीं कर सका. फिर भी मौक़ा पढ़ने पर दोस्त के काम आया. कहानी की मूल शर्त होती है लोक रंजकता और आस्वादन जिससे पाठक बंधता है. साथ ही अंत तक कुतूहल बनाये रखना. कहानी इन शर्तों पर खरी उतरी है. सुशांत प्रिय की कहानी ‘हे राम’ औसत दर्जे की कहानी है तो मंगला रामचंद्रन की कहानी ‘सज़ायाफ़ता’ कपूत बेटे का चित्रांकन करती है. राजेंद्र पांडे और डॉ.वी. रामशेष की कहानियां सामान्य हैं. लघुकथा ‘उम्मीद’ आज की शासन व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है, तो लघुकथा ‘हवाएं’ हमारी संकीर्णता और तुच्छता का मार्मिक चित्रण हैं.

❖ **प्रेम बहादुर कुलश्रेष्ठ,**

सुशीला देवी इंटर कॉलेज, गंगीरी, अलीगढ़ (उ.प्र.)

\* अंक वार ‘कथाबिंब’ की कहानियों में विषयगत एक समानता भी दिखाई देती है. यह अनायास होता है या आपका सचेत चयन, इसे आप ही बता सकते हैं. जनवरी - मार्च ०८ की कहानियों में मनुष्य की सुविधापरस्ती और आत्मग्रस्तता से साक्षात्कार होता है. सुशांत सुप्रिय की कहानी ‘हे राम’ सामाजिक जड़ता तोड़ने की कोशिश में समाज की हृदयहीनता के चलते विक्षिप्त होने की परिणति है तो मंगला रामचंद्रन की कहानी में पारिवारिक अलगाव और पश्चाताप की द्वंदपूर्ण मनःस्थिति. डॉ.वी. रामशेष की कहानी ‘मध्यांतर’ में स्वार्थपरता और भोगवाद की ऐसी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है कि मित्र की मृत्यु का शोक भी एक खललकारी वस्तु हो जाता है. राजेंद्र वर्मा की कहानी में भी मानवीय स्थितियां वही हैं लेकिन कहानी का सुखांत आदर्शवादी होने के कारण मानवीय दृष्टि से आश्वस्तकारी है. राजेंद्र पांडे की कहानी ‘बस, चाय का दौर था और चर्चाएं थीं.’ भी पठनीय है. लघुकथाएं अच्छी लगीं.

❖ **केशव शरण,**

एस २/५६४ सिकरौल, वाराणसी २२१००२

## डॉक्टर की फीस

घटना बेहद पुरानी, तक्ररीबन चालीस वर्ष पहले की है। वक्रत के साथ-साथ कई कड़वी मीठी स्मृतियां लोप हो गयी हैं पर फुरसत में जब कभी वर्तमान, भविष्य की चिंता से उबर अतीत में झांकता हूं तुरंत एक ऐसा चेहरा उभरकर सामने आ जाता है जो गुजरते पल के साथ-साथ बजाय धुंधला होने के और भी परिचित हो चला है।

एक चिकित्सक होने के चलते मुझे गाहे-बेगाहे इमरजेंसी केस देखने के लिए आस-पड़ोस व कभी-कभार तो दूर दराज के इलाक़े में भी जाना पड़ता था। उन दिनों भोजपुर का आरा शहर आज की तरह नहीं था। पक्की सड़कों के निर्माण की योजना शुरू ही हुई थी। कच्चे-पक्के, ऊबड़-खाबड़ रास्तों पर कभी रिक्शे या इक्के की सवारी करनी होती थी।

एक दुपहरिया, डिस्पेन्सरी का कार्य पूरा करके घर पहुंचा। दिन के एक बज रहे थे। नहा धोकर खाने की मेज़ तक पहुंच कुर्सी पर विराजता तब तक बड़ी बेटी ने आकर सूचना दी, 'पापा एक आदमी आपको बुला रहा है।' मैं बाहर निकला तो देखा एक साधारण मज़दूर टाइप का आदमी हाथ जोड़े खड़ा था। मैं कुछ प्रश्न करता उसके पहले ही वह बोल पड़ा, 'डॉक्टर साहेब, हमारी जनाना को बचा लीजिए। आप तुरंत मेरे साथ चलिए नहीं तो वह मर जायेगी...'

मैं कुछ उत्तर देता तब तक उसने बदहवासी में मेरे दोनों पैर पकड़ लिये। उसकी कातरता और अश्रु भरे नैनों को देख मेरी भूख जाती रही। साथ चलने का आशवासन देकर मैं अंदर गया तथा ज़रूरी दवाइयां वगैरह रख लीं। मेरी हड़बड़ी देख पत्नी का खीझना शुरू हो गया। स्वाभाविक था उसके स्थान पर कोई भी स्त्री होती तो ऐसा ही करती। अब जाने मेरी कब वापसी होगी। मैंने पत्नी से कह दिया - बच्चों के साथ-साथ तुम भी खा लेना। कोशिश यही रहेगी कि जल्दी लौट आऊं और ऐसी घटना कोई पहली बार तो घट नहीं रही थी। दुनिया के सभी डॉक्टरों के साथ ऐसा ही होता आ रहा है, मैं कोई उनसे अलग तो था नहीं।

रिक्शा लगा हुआ था। मैं बैग संभालता सीट पर बैठा और मेरे पैरों के पास वो आदमी। जब तब वह रिक्शेवाले को तेज़ चलाने की ताकीद करता, साथ ही यह कहना न भूलता कि हमारी जनाना को टैम से दवा दारू नहीं मिला तो वह मर जायेगी। एकाध

बार मैंने भी रिक्शेवाले को तेज़ चलाने की ताकीद की लेकिन सड़क इतनी सपाट चिकनी तो थी नहीं कि रिक्शा मोटरकार की तरह सरपट भागने लगता। टोकने पर रफ़्तार थोड़ी देर के लिए बस उन्नीस से बीस होती।

मई जून की तेज़ गर्मी और चिलचिलाती धूप में इस तरह बिना खाये पिये घर से निकलने में आप सोच सकते हैं कैसी झुंझलाहट हो रही होगी। रास्ता घाट में तेज़ गर्मी के मारे इक्के-दुक्के लोग ही नज़र आ रहे थे। गर्म लू के थपेड़ों से अलग परेशानी थी। हाट बाज़ार दूकान सब बंद। रिक्शा वाला भी पैडल मारते-मारते बेहाल हो उठा था। आधे घंटे का सफ़र मानो कई घंटों में परिवर्तित हो गया था। मैंने झुंझलाकर पूछा - अब और कितनी दूर जाना है भई? ऐसे मौसम में तो मैं खुद बीमार हो जाऊंगा।

### ॥ माला वर्मा ॥

'सामने वाले उस मोड़ पर हम लोग रिक्शा छोड़ देंगे और आगे का रास्ता थोड़ा अंदर गांव की तरफ़ है जिसके लिए किसी इक्के वाले को पकड़ना होगा....'

'क्या....? अब इक्के की सवारी भी करनी पड़ेगी? तुमने तो मुझे अच्छी मुसीबत में डाल दिया। मुझे पता होता कि इतना झमेला है तो मैं कदापि नहीं आता। इससे अच्छा था कि तुम ही अपनी पत्नी को लेकर मेरे घर आ जाते....'

मेरी बात को एकदम से अनसुनी करते हुए वह अगले मोड़ पर लपक कर रिक्शे से कूद गया तथा कच्ची सड़क पर आगे बढ़ चुके एक इक्केवान के पास दौड़ता हुआ पहुंचा तथा दो सवारी और बैठा लेने का अनुरोध करने लगा। इक्के वाला शायद रुकता नहीं लेकिन दो सवारी में एक डॉक्टर भी बैठने वाला है यह सोचकर उसने घोड़े को लगाम दी। सब कुछ इतना आनन-फ़ानन हुआ कि वहां अपनी मर्जी तथा नाराज़ होकर वापस उसी रिक्शे से घर लौट जाऊं, सोचने के बाद भी मैं यंत्रचालित इक्के पर बैठ गया। गर्मी के मारे मिज़ाज पिनपिना रहा था। सहयात्रियों में एकाध लोगों ने छाते तान रखे थे जिसकी छाया में थोड़ी राहत मिली। धूल भरे कच्चे रास्ते पर उछलते-कूदते इक्के की सवारी बड़ी कष्टदायक होती है। कहां तो इस वक्रत खा पीकर मैं सो रहा होता लेकिन क्रिस्मत देखिए किस चक्कर में पड़ा था। शहरी इलाक़ा पीछे छूट



गया था और अब दूर-दूर तक खेत, कच्चे पक्के मकान व झोपड़ियां ही नज़र आ रही थीं।

यह बीस-पच्चीस मिनट का सफ़र शरीर का हाड़-हाड़ बजा गया. मरता क्या न करता. मेरा लक्ष्य तो अब उस मरीज़ को देखना था. इक्के से उतर मैं एक कच्चे मकान में पहुंचा जहां सामने खटिया पर एक लस्त-पस्त महिला पड़ी थी. उसे पिछले दो-तीन दिनों से डायरिया हुआ था. तीव्र ज्वर में लगभग बेहोशी की हालत में थी. मैंने नब्ज़ देखी तथा तुरंत एक इंजेक्शन लगाया तथा कुछ दवाइयां भी खाने को दीं. इसके अलावा कुछ अन्य दवाइयां उस व्यक्ति को थमार्यी तथा ज़रूरी एहतियात बरतने को कहा. चीनी नमक का घोल सामने तैयार करवाया और उसे बार-बार मरीज़ को पिलाते रहने को कहा.

तक्ररीबन पंद्रह बीस मिनट के बाद औरत के शरीर में थोड़ी हलचल हुई. उसने अपनी आंखें खोलीं तथा बड़ी कातरता से देखते हुए अपने दोनों हाथ उठाने का प्रयास करने लगी ताकि मुझे सलाम प्रणाम कर सके, लेकिन कमज़ोरी के मारे उसके हाथ उठ नहीं रहे थे. मैंने इशारे से उसे ऐसा करने से मना किया तथा समय से दवा दारू तथा ज्यादा मात्रा में पानी पीने का आदेश देकर उठ खड़ा हुआ. मुझे जल्द से जल्द घर लौटने की फ़िक्र लगी थी. वापस डेढ़ घंटे का उबाऊ सफ़र सोचकर ही दिल बैठा जा रहा था. समय पर रिक्शा व इक्का अगर न मिला तो? इस दौरान मुझे थोड़ी गुड़ की डली और मटके का ठंडा पानी पीने को मिला. सच कहूं.... आज तक वैसा मीठा स्वाद फिर कभी नहीं मिला. उस तृप्तिदायक दो गिलास ठंडे पानी की तुलना में आज कोई भी उम्दा क्रिस्म का महंगा से महंगा कोल्ड ड्रिंक नहीं टिक सकता.

अब मैं फ़ीस का इंतज़ार कर रहा था कि जल्दी मिले और प्रस्थान करूं. जब मैंने फ़ीस की बात कही तो वह आदमी हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और फ़ीस के नाम पर पांच रुपया थमाने लगा. मैं बिफर उठा, 'यह क्या मज़ाक समझ रहा है? पचास सौ की जगह सिर्फ पांच रुपये? तुम्हें पता नहीं इतनी दूर डॉक्टर को ले जाने में कितना चार्ज बनता है? एक तो इतनी गर्मी में तुम्हें दूसरा कोई डॉक्टर नहीं मिलता ऊपर से इतनी कंजूसी? फ़ीस के अलावा मैंने दवाइयां व इंजेक्शन भी खर्च किये उसका तो हिसाब अभी जोड़ा ही नहीं.'

लीजिए... कहने के साथ उसका पैरों पर गिरना पड़ना शुरू हो गया. इस बार पिता के साथ बेटी भी थी. आसपास दो-तीन बच्चे और खड़े थे जो डबडबाई आंखों से मुझे ताक रहे थे. अब तक आसपास पड़ोस के कुछ लोग भी जुट आये थे. उन्हीं में कोई एक बुजुर्ग बोल उठा, 'डॉक्टर साहेब माफ़ कर दीजिए इस जगेश्वर को. कुछ न कुछ झंझट में हमेशा पड़ा ही रहता है. जितना कमाता



माला वर्मा

३० जनवरी, १९५६, आरा भोजपुर (बिहार);  
बी.एस.सी. (ऑनर्स).

**प्रकाशन :** भारत की सभी प्रमुख स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में कविता, लेख, लघुकथा, व्यंग्य व कहानियों का अनवरत प्रकाशन. 'बसेसर की लाठी' (कथा संग्रह), 'परिवर्तन' (लघुकथा संग्रह), यूरोप-यात्रा संस्मरण, मलेशिया सिंगापुर थाइलैंड-यात्रा संस्मरण, 'सूरज की चाह' (कविता संग्रह), 'पिरामिडों के देश में' (यात्रा संस्मरण), 'अमेरिका में कुछ दिन' (यात्रा संस्मरण) (यंत्रस्थ).

**सम्मान :** डॉ. अंबेडकर फेलोशिप अवार्ड (१९९८), साहित्य शिरोमणि सम्मान, कवि कोकिल सम्मान, श्री कृष्ण कला साहित्य अकादमी सम्मान (२००१), गोविंदी बाई पुरस्कार (२००७)

**विशेष :** आकाशवाणी कोलकता से कई रचनाओं का प्रसारण

नहीं उससे चौगुना खर्चा है. इसकी पत्नी ठीक हो जायेगी तो दोनों मरद मेहरारू खटकर आपका पैसा चुका देंगे. आज तो यहां बड़ी मजबूरी है हुज़ूर....'

जी में आया सबको एक संग डांटूं लेकिन गुस्से को ज़ब्त किये मैं घर से बाहर निकल आया. लोगों ने सवारी की व्यवस्था पहले से कर रखी थी. खैरियत, इंतज़ार नहीं करना पड़ा. इक्के से ही सीधे घर पहुंचना था. रास्ता पहले ही की तरह सुनसान था. आदमी की बात तो छोड़िए उस गर्मी में कहीं गाय, बकरी, कुत्ते तक नज़र नहीं आ रहे थे. एक तो प्रचंड गर्मी, ऊपर से इक्के की सवारी. तनमन सब झकझोर गया. हर जगह तपन ही तपन. समय की बर्बादी के साथ इतना कष्ट उठाना पड़ा और राहत के नाम पर फ़ीस भी नहीं मिली. मन कुढ़न से भर गया था.

शाम साढ़े चार बजे मैं घर पहुंचा. दुबारा नहाना पड़ा. नहा धोकर सीधे बिस्तर पर लेट गया. दस मिनट चुपचाप आंखें बंद किये आराम करता रहा. तब तक पत्नी सिर पर सवार हो गयी, 'कहां गये थे? इस तरह क्यों पड़े हो? भोजन नहीं करना? लाख व्यस्त रहो, खाने-पीने का ध्यान तो रखना ही होगा. खाना

खाकर भी तो जा सकते थे. दस मिनट की देरी से मरीज़ कहीं मर तो नहीं जाता....’

जाने कब तक ऐसे सवाल चलते, सो मैंने बीच में बाधा डाली, ‘अब जल्दी से खाना परोस दो. चावल कम ही देना या सुबह वाली रोटी ही दे दो. शाम को गरिष्ठ भोजन करना ठीक नहीं.’

खाने के दौरान ही मैंने पत्नी को सब क्रिस्सा सुनाया. फ्रीस नहीं मिलने की बात पर पत्नी ने पहले तो बहुत नाराज़गी दिखायी फिर थोड़ी देर बाद कह उठी, ‘जाने दीजिए भगवान की कृपा से हमारे पास किसी चीज़ की कमी नहीं, अगर उसकी पत्नी ठीक हो जायेगी तो हमें आशीर्वाद देगी.’

पत्नी की बात सुनकर दिल को थोड़ा दिलासा मिला. बात आयी गयी हो गयी. मैं अपनी रोजमर्रा की व्यस्तता में धीरे-धीरे उस घटना को भूलता गया कि अचानक एक दिन वही व्यक्ति जगोसर फिर मेरे घर हाज़िर था जिसे देख मुझे अपनी फ्रीस याद आ गयी. बड़े रूखे व अनसाये स्वर में मैंने पूछा, ‘अब क्या है? फिर से दुबारा इतनी दूर जाने को न कहना. एक तो रो-गाकर डॉक्टर को जब तब ले जाते हो तुम लोग, ऊपर से फ्रीस भी नहीं देते. अगर यही आरा की जगह कोई बड़ा शहर दिल्ली-बंबई जैसा होता तब आटे-दाल का भाव पता चलता. तुमने तो उस दिन एकदम मुफ्त में इलाज करा लिया. तुम्हारे पड़ोसियों का कहना था तुम बाद में पैसे दे जाओगे. क्या वही लेकर आये हो?’

जगोसर ने अपने दोनों हाथ जोड़े तथा कह उठा, ‘डॉक्टर बाबू आप आदमी नहीं भगवान हैं. हमारी पत्नी को आपने उस दिन जीवनदान दिया था अब वो पहले से बहुत अच्छी है. आपको प्रणाम कहा है. दो-चार दवाई और दे दीजिए इसके बदले में आप जो भी काम कहिए मैं करने को तैयार हूँ. आपको मैंने फ्रीस नहीं दी इस बात को मैं हमेशा याद रखूंगा तथा जीवन भर आपका एहसास भी मानूंगा. आप उस दिन नहीं जाते तो मेरा परिवार उजड़ जाता. मैं बीच-बीच में आता रहूंगा और आपका काम करता रहूंगा. कभी मौक़ा देकर देखिए...’

जगोसर की बात सुनकर मैं मन ही मन हंसा तथा सोचने लगा, हां भई जगोसर! बना लो डॉक्टर साहब को बेवकूफ. चाहे जितनी डॉयलॉगबाज़ी करो वो धूप गर्मी और हाड़-हाड़ की चरमराहट के साथ फ्रीस वाली बात मैं भूल नहीं सकता....खैर चलो जगोसर तुम भी क्या याद रखोगे किस नरमदिल डॉक्टर से पाला पड़ा था. मैंने उसे कुछ सैम्पल वाली टिकिया व एक छोटी बोटल टॉनिक की पकड़ायी. इसके एवज में उसने कमर में बंधी धोती से दो रुपये निकाले और आगे बढ़ा दिये. मेरी समझ में नहीं आ रहा था उन रुपये को लूँ या इन्कार कर दूँ लेकिन लौटाना भी

कोई होशियारी का काम नहीं था. भागते भूत की लंगोटी ही सही.

तीन-चार महीने के बाद एक दिन फिर जगोसर हाज़िर हो गया और सच पूछिए तो जैसे इस बार मैं उसके इंतज़ार में बैठा था. जगोसर कुछ कहता उसके पहले ही मैं कह उठा, ‘मेरी बड़ी बेटी की शादी पक्की हो गयी है. अगले महीने की २२ फरवरी को बारात आयेगी. तुम आकर ज़रूर हाथ बंटा जाना. एक हफ़्ता पहले ही आ जाते तो अच्छा रहता अगर तुम्हारी पत्नी आ सके तो उसे भी लेते आना. शादी ब्याह के घर में काम की कमी नहीं....’

हाथ जोड़ते हुए जगोसर कह उठा, ‘जनाना को घर दुआर छोड़कर आने में दिक्कत होगी हुज़ूर लेकिन मैं ज़रूर बियाह का काम संभाल दूंगा. जो भी काम हो निःसंकोच कहियेगा. हमारे माथे जो कर्ज़ है उसे तो इसी जीवन में उतारना होगा.’

मैंने कागज़ पर शादी की तारीख वगैरह लिखकर दे दी ताकि उसे याद रहे. जगोसर कह तो गया कि ज़रूर आयेगा फिर भी मेरे मन में अंत तक संदेह बना ही रहा, क्या पता नहीं आया तो! अपनी फ्रीस की कीमत कैसे वसूल करूंगा?

खैर शंका निर्मूल निकली. तिलक के पहले ही जगोसर हाज़िर हो गया था. उसके बाद तो उसने दस दिन ऐसी हाड़ तोड़ मेहनत दिखाई कि घर के लोग दंग रह गये. जिस काम में भिड़ा दिया जाता उसी में मन प्राण से डूब जाता. उसकी मेहनत देख मेरे एक रिश्तेदार ने टिप्पणी की थी. एक अकेला जगोसर दस आदमी का काम कर रहा है. ऐसा आदमी तो मैंने पहले कभी देखा ही नहीं था. न ही अन्य खोजने पर मिले. भाई साहब आपको यह आदमी कहां से मिल गया?

कभी-कभी तो काम की धुन में जगोसर नाश्ता खाना भूल जाता. मैंने घरवालों को ताकीद कर रखी थी उसके खाने-पीने का समुचित ध्यान रखा जाये. देखते ही देखते दस दिन गुज़र गये. शादी ब्याह हंसी-खुशी निपटा और बेटी ससुराल चली गयी. उसके बाद जगोसर ने भी जाने की अनुमति चाही.

यहां एक बात मैं कहता चलूं, मेरी पत्नी ने जगोसर व उसकी बहू के लिए धोती-कुरता और साड़ी ब्लाउज़ देने का मन बनाया था. जगोसर के नाम का पैकेट भी संभाल कर रखा हुआ था कि जाते वक़्त उसे देना है लेकिन मेरे मन का चोर कहिए कि मैंने जगोसर के नाम की चिट रात को ही फाड़ कर फेंक दी और एकदम सुबह जगोसर बिना कुछ कहे खाली हाथ चला गया. मुझे अब जाकर चैन आया कि फ्रीस की कीमत आखिरकार वसूल ली गयी. उस रात अच्छी नींद आयी.

उसके बाद कई दिनों तक जगोसर की कर्मठता की चर्चा गाहे-बगाहे घर में होती रही. जगोसर के नाम का रखा वस्त्र दूसरे के

काम आ गया. अब इतनी भीड़भाड़ में भला पत्नी को भी कहां याद आता कि वे कपड़े दिये गये कि नहीं.

एक रात अचानक मेरी आंख सपने की वजह से खुल गयी. सपने में देखा जगोसर व उसकी बहू नये कपड़ों में एक संग खड़े मुस्कुरा रहे हैं और साड़ी का प्रिंट हुबहू वही जिसे पत्नी ने उन्हें देने के लिए सहेज रखा था. गहरे लाल रंग की पृष्ठभूमि पर चटक हरे व पीले रंग के बड़े-बड़े फूल तथा साड़ी के बॉर्डर का रंग गहरा नीला. उस कॅम्बिनेशन के डिजाइन वाली साड़ी को देख मैंने पत्नी से कहा भी था, 'तुम्हें और कोई प्रिंट नहीं मिला बाज़ार में? ऐसे गहरे रंग की साड़ी भला कौन पहनेगा? कोई हल्का सा रंग चुनती जो आंखों को भाता...'

पत्नी ने तुरंत मुझे यह कहते हुए रोका, 'तुम्हें क्या मालूम कि ऐसे गहरे प्रिंट ही ये गरीब, दाई, नौकर व गांववाले पसंद करते हैं. उन्हें दिनभर खटना होता है जितना भी धूल गर्द लगे मैला नहीं दिखेगा....तुम क्या जानो घर गृहस्थी की बातें...'

पीले रंग की धोती व गुलाबी कुरते में मंद-मंद मुस्काते जगोसर को देख मेरी बाकी की नींद हराम हो गयी. जगोसर ने तो अपना कर्जा दस दिन खटकर चुका दिया था व उसकी आत्मा ने शांति पा ली लेकिन अब अपने लिए क्या कहूं? क्या जगोसर ने अपना बोझ मेरे सीने पर नहीं डाल दिया था? मेरे मन की स्थिति अजीब हो गयी थी, न किसी से कुछ कहने लायक था न भूलने

वाली स्थिति. अंदर ही अंदर कई दिनों तक घुटता रहा.

जगोसर फिर कभी दुबारा मेरे यहां नहीं आया. उसके आसपास के लोग भी इतनी दूर मुझसे इलाज कराने नहीं आते थे जिनसे कुछ खबर पा सकूं. अब दिल को राहत पहुंचाने का कार्य मुझे स्वयं ही खोजना था. जहां चाह वहां राह. मैंने मन ही मन एक प्रण किया, अपने आसपास बिखरे ऐसे कई जगोसरों का इलाज मुफ्त में करूंगा जो पैसों के अभाव में बिना दवा दारू के कष्ट पाते हैं अगर रोजाना कुछेक लोगों का इलाज जीवन भर मुफ्त में करता चलूं तो बड़ी आसानी से जगोसर का कर्ज उतार दूंगा और विश्वास कीजिए बंधु, आज तक वही करता आ रहा हूं. उस एक जगोसर के नाम पर कई जगोसरों का भला हुआ लेकिन उस असली जगोसर का पता न चला.

मैंने कई बार कोशिश की शायद उसका कुछ पता चले लेकिन यह सब अंधेरे में तीर चलाने की तरह ही साबित हुआ. वो रास्ता घाट भी मेरी स्मृति से निकल चुके थे. जिस पर चलकर मैं कभी जगोसर के घर पहुंचा था. चालीस साल पहले की वो घटना और स्वप्न में मंद-मंद मुस्काते पति-पत्नी का चेहरा भला मैं कभी भूल पाऊंगा? शायद इस जनम में तो संभव नहीं...'

हाजीनगर, २४ उत्तर परगना, (प.बं.) ७४३१३५  
फोन - ९८७४११५८८३

## लघुकथा

## 'मुक्ति'

घनश्याम अग्रवाल

दो दिन पहले एक भीषण दुर्घटना हो गयी. तेज बारिश से नदी के पुल का एक हिस्सा टूट चुका था और आती हुई पेसिंजर की तीन बोगियां नदी में गिरकर डूब चुकी थीं. चारों ओर हाहाकार मचा था. लाशें निकाली जा रही थीं. फिर भी आशंका थी कि कुछ लाशें अब भी नदी में बहकर चली गयी होंगी. राहत अधिकारी ने घोषणा की. नदी में से लाश ढूंढकर लानेवाले को दो सौ रुपये मिलेंगे.

राहत शिविर से तीन-चार मील दूरी पर एक झोपड़ी के सामने दो भाई उदास बैठे थे. तीन दिनों से उनके पेट में अन्न का दाना तक नहीं गया था. उस पर बूढ़ा बाप चल बसा. बूढ़ा मरने से पहले बड़बड़ाता रहा था - 'अरे, मेरी दवा-दारू नहीं की तो नहीं की. पर मेरी मिट्टी ज़रूर सुधार देना. मुझे दफ़नाना नहीं, आग माता के हवाले कर देना. मुझे मुक्ति तो मिलेगी.'

'कहां से करें आग माता के हवाले. घर में चूल्हा जलाने को पैसे नहीं हैं. लाश जलाने को कहां से आयेंगे पैसे?' एक भाई बोला.

'हम कितने गरीब और बदनसीब हैं. बाबा की आखिरी इच्छा भी पूरी नहीं कर सकेंगे. लाश को सुबह दफ़नाना ही होगा,' रोता हुआ दूसरा भाई बोला. दोनों भाई सर झुकाये रो रहे थे. बारिश हो रही थी.

अचानक उनकी आंखें चमक-सी उठीं. उन्होंने झट लाश को

झोपड़े से बाहर निकालकर खुले में रख दिया. रात भर लाश भीगती रही. तड़के ही दोनों भाइयों ने लाश को उठाया और नदी के किनारे होते-होते राहत शिविर में पहुंचे. राहत अधिकारी से बोले - 'हुजूर, ये लाश नदी से निकालकर लाये हैं. ट्रेन के किसी मुसाफिर की होगी. किसी हिंदू की लगती है साहब - इसके गले में जनेऊ है.' एक भाई बोला.

'और साब. इसकी चोटी भी है.' दूसरा बोला.

अधिकारी ने कुछ सतही सवाल पूछे और अपने कर्मचारी से कहा - 'इन्हें दो सौ रुपये दे दो और लाश को उधर रख दो. हिंदूवाली लाशों के साथ. कोई लेने आये तो ठीक वरना परसों लावारिश समझकर सामूहिक जला देना. बाकी लाशें दफ़न कर देना और हां, लाश की फोटो भी ले लो.'

दो दिन बाद दोनों भाई दूर से अपने पिता की लाश को अग्नि के हवाले होते देख अपने बाबा को याद करके रो रहे थे, 'बाबा बड़ा धार्मिक आदमी था. उसकी मिट्टी भी सुधर गयी. जाते-जाते हमें भी कुछ देकर ही गया.'

'हां, भाई, बाबा की मुक्ति हो गयी और कुछ दिन के लिए हमारी भी.'

अलसी प्लॉट, अकोला - ४४४००४

## धुआं-धुआं ज़िंदगी

**पा**पा बुआजी के गृह-प्रवेश में अकेले गये थे, क्योंकि हम सब की परीक्षाएं चल रही थीं। जब वे लौटे, तो अकेले नहीं थे। उनके साथ निपट गंवार 'खेलावन' भी आया था। कड़ुआ तेल चुपड़े बाल, ऊंची धोती, कंधे पर लाल गमछा और पैरों में रबड़ की चप्पल, लंबा दोहरे बदन का, चेहरे पर बड़ी-बड़ी आंखें और मुख पर गंवई भोलापन। उसका व्यक्तित्व बरबस आंखों को खींच लेता था। पता चला फूफा जी का मकान बनाने वाले मजदूरों में वह एक था। पापा की ननिहाल मैनपुरी का रहनेवाला था। जीविका की तलाश में जमशेदपुर आया था। पापा से हाथ जोड़ दीनता भरे स्वर में बोला था, "हमका भी साथ लै चलै भइय्या। हमसे जौन-जौन बन पड़ी घरौ का काम कर देब।" उसके चेहरे की दीनता और कातर दृष्टि के सामने पापा मना नहीं कर सके। इस तरह पापा के साथ हमारे घर खेलावन का आना हुआ। हमारा 'आउट हाउस' खाली पड़ा था। उसकी सफाई कर खेलावन उसी में रहने लगा।

चार वर्ष के अनुबंध में एक विदेशी कंपनी टिस्को में काम करा रही थी। प्रायः मजदूरों की भर्ती होती रहती थी। पापा ने उसी कंपनी में उसे लगवा दिया। हिंदी न जानने के कारण वह अवधी में बातें करता। शुरू-शुरू में उसे यहां की खिचड़ी हिंदी समझने में कठिनाई हुई। किंतु धीरे-धीरे वह इसका अभ्यस्त होता गया। हम भाई-बहनों से उसका संवाद अवधी में होता। हम उसकी पूरी-पूरी बातें समझ नहीं पाते। किंतु अपनी भंगिमाओं से वह समझाने की पूरी कोशिश करता। हमें उससे बातें करने में बड़ा मज़ा आता। मां को वह बहूजी कहता और बड़े अदब से उनसे बातें करता। सुबह सात बजे उसे कारखाने पहुंचना होता। भोर पांच बजे वह उठ जाता। बगीचे में झाड़ू लगाता, बाहर का बरामदा और आंगन धोता। मां ने ये काम उसे नहीं सौंपे थे। बात दरअसल यह थी कि हमारी महरी सुबह काम पर बहुत देर से आया करती थी। ग्रामीण परिवेश में पले खेलावन को इतनी देर तक घर-द्वार बासी पड़े अच्छे नहीं लगते थे। एक दिन जब उससे नहीं रहा गया, तो मां से महरी के देर से आने का कारण पूछ ही बैठा। यह पता चलने पर कि सुबह जल्दी आने के लिए दबाव डालने पर महरी काम छोड़

देगी, उसने अगली सुबह खुद झाड़ू उठा ली थी। काम से निवृत्त हो, नहा धोकर, अपने लिए चार मोटी-मोटी रोटियां सेंक वह कारखाने चला जाता। सब्जी बनाना वह जरूरी नहीं समझता और प्याज़-नमक से रोटी खा लेता। मां को पता चला तो वे खेलावन पर बहुत बिगड़ीं और फिर सब्जी या आचार का टुकड़ा देने लगीं। सुबह का गया खेलावन रात सात-आठ बजे तक लौटता। उसके भारी क्रदम और मुरझाया चेहरा उसकी थकान का परिचय देते।

### ॥ डॉ. सूर्या राव ॥

खेलावन जब नया-नया आया था तो उसके चेहरे पर गांव की आबोहवा की चमक थी। अब उसका चेहरा निस्तेज होता चला जा रहा था। उसका खड़ा शरीर थकान से झुका-झुका दृष्टिगोचर होता। कभी बहुत अधिक थकान होने पर वह रात का खाना नहीं पकाता और पानी पीकर सो जाता। मां को जब पता चलता तो वे उसे डांटतीं। वह कोई उत्तर नहीं देता। मेरी छोटी बहन श्रेष्ठा उसकी सबसे पक्की दोस्त थी। खेलावन पर ऐसा अधिकार जताती कि उसकी किसी फ़रमाइश को वह मना कर दे या टाल दे, ऐसी उसकी मजाल नहीं थी। वह कब उसकी कोठरी में खिसक जाती कि किसी को पता भी न चलता। खेलावन से उसकी बातें कभी समाप्त होने को नहीं आतीं। खेलावन को कभी हाथी, कभी घोड़ा और न जाने क्या-क्या बनाती और उसकी सवारी करती। ऐसा न करने पर वह रोने लगती। हारकर खेलावन को उसकी बात माननी पड़ती क्योंकि खेलावन उसे रोती नहीं देख सकता था। खेलावन की इस कमजोरी का वह खूब लाभ उठाती।

इस बीच हमने एक झबरा कुत्ता पाल लिया था। जिसे हम प्यार से 'शेरू' बुलाते थे। सुबह शेरू को सैर कराने का दायित्व भी खेलावन ने ले लिया। यदि किसी दिन श्रेष्ठा जल्दी जग जाती तो खेलावन की आफ़त आ जाती। वह खेलावन के साथ जाने की ज़िद पर अड़ जाती। खेलावन उसे कंधे पर बिठाकर एक हाथ में 'शेरू' की जंजीर थामे निकल जाता। लौटकर आने पर वह गेट के

अंदर आना नहीं चाहती और चीखने लगती. उसकी चीख सुनकर मां को बाहर आना पड़ता और बड़ी कठिनाई से खेलावन के कंधे से उसे खींचकर उतारतीं और अंदर ले जातीं. अंदर आकर वह मां को परेशान करती. चाहकर भी खेलावन कुछ नहीं कर पाता क्योंकि उसे कारखाने के लिए देर हो रही होती.

हर हफ्ते खेलावन के घर से उसके बेटे की चिट्ठी आती, जो मैनपुरी में चौथी में पढ़ रहा था. चिट्ठी पढ़वाने वह मेरे पास आता, जिसका जवाब भी मैं ही लिखा करता. बेटे का पत्र सुनते हुए वह विभोर हो उठता. बेटे के उज्ज्वल भविष्य के सपने उसकी आंखों में तैरने लगते. उसके द्वारा लिखाये गये उत्तर का एक ही विषय होता. वह यहां बिल्कुल ठीक है. वे लोग उसकी चिंता ना करें. उसे खाने-पीने की कोई तकलीफ नहीं है. वह मन लगाकर पढ़े क्योंकि पढ़-लिखकर उसे बड़ा आदमी बनना है. उसका अंतिम वाक्य होता कि बहुत जल्द उन लोगों से मिलने आयेगा, लेकिन खेलावन का जाना क्या इतना आसान था. जाने-आने में ही उसकी पूरी तनख्वाह खर्च हो जायेगी. फिर उनको खर्चा पानी कहां से देगा और खुद क्या खायेगा? यह विचार घर जाने की उसकी बलवती इच्छा को दबा देता.

एक दिन जब मैं खेल कर आया तो देखा मां खेलावन को डांट रही हैं और वह अपराधी की तरह सिर झुकाये खड़ा है. अधिक रुपये कमाने के चक्कर में वह ओवर टाइम करने लग गया था और सुबह का गया अगले दिन देर शाम लौटा था. मां जानती थीं कि खेलावन मां के हाथ के अलावा किसी के हाथ की बनी कोई चीज़ नहीं खाता. इसका अर्थ यह हुआ कि रात और अगले दिन दोपहर का खाना बंद. उन्होंने समझाते हुए नरमी से कहा - “देखो खेलावन जब तुहार बदन मा ताकत रही, मुदा तबीयत ठीक रही, तबै ना कमाई करिहौ. इ काहे नाहीं सोचत हौ कि तुमका कुछ हुई हवा गवा तौ लड़कन अउर तुमरी घरवाली का देखनहार कोऊ नाहीं है.”

“बात त ठीकै कहत हौ बहू जी. मुदा अउर कौनौ उपाय है का?” सिर झुकाये उसने उत्तर दिया. मां के पास इसका कोई उत्तर नहीं था.

जमशेदपुर आये खेलावन को दो वर्ष बीत गये थे. उसकी घर जाने की इच्छा प्रबल होती जा रही थी, किंतु जाने का कोई उपाय नज़र नहीं आता था. वह पंख कटे पक्षी की तरह फड़फड़ा कर रह जाता. यही सोचा करता - पहली बार जायेगा, खाली हाथ तो नहीं जा सकता. बेटे महेश के लिए पैट-कमीज़, मुन्नी के



सूर्या शर्मा

एम.ए. (हिंदी), बी.एड., पी.एच.डी.

**लेखन** : अब तक ‘आधारशिला’, ‘समग्रदृष्टि’, ‘नारी संवाद’, ‘तुलसी प्रभा’, ‘इस्पात भारती’ आदि पत्रिकाओं एवं ‘दैनिक हिंदुस्तान’ में कहानियां एवं आलेख प्रकाशित. कहानियों व वार्ताओं का आकाशवाणी जमशेदपुर से नियमित प्रसारण.

**रुचियां** : संगीत व अभिनय (‘असमाप्त’, ‘आषाढ़ का एक दिन’ एवं ‘जिन लाहौर नहीं देख्या वे जन्मे नहीं’ जैसे नाटकों में अभिनय).

**संप्रति** : स्वतंत्र लेखन.

लिए चिट्ठी-फ़ॉक आदि उसने खरीद लिये थे. छोटे बेटे गनेस और घरवाली के लिए अभी तक कुछ नहीं खरीद पाया था. किसी तरह उसने गनेस के लिए भी कमीज़ और निकर खरीद ली. केवल घरवाली बची थी. उसके लिए भी कम से कम साड़ी जाकिट ज़रूरी था. इसकी गुंजाइश वह किसी प्रकार नहीं निकाल पाया था. कारण यह था कि अब थोड़े दिन ठीक, और बीमार अधिक रहता. किसी तरह कारखाने चला भी जाता तो ठेकेदार उसे बैठा देता.

उसे प्रायः ज़ोरों की खांसी उठती. खांसते-खांसते वह बेदम हो जाता और छाती पकड़कर बैठ जाता. कभी ऐसा होता कि बलगम के साथ खून आ जाता. खून देखकर वह घबरा जाता. लेकिन पैसे खर्च होने के भय से इलाज कराने से कतराता और यदि करता भी तो सप्ताह भर की दवा पंद्रह दिनों तक खाता रहता जिसके फलस्वरूप पूरी तरह ठीक नहीं हो पाता था. हां! अपने ज़िम्मे लिये कामों को करने में वह कभी कोताही नहीं करता. मां उसके छीजते शरीर को देख चिंतित थीं. उन्होंने अपनी यह चिंता पापा से व्यक्त की थी. वे पापा से आग्रह करतीं कि वे खेलावन को समझायें कि मैनपुरी लौट जाने में ही उसकी भलाई है, नहीं तो



कारखाने की धुआं उगलती बड़ी-बड़ी चिमनियां उसके अस्तित्व को पूरी तरह निगल जायेंगी. पापा की ओर से कोई प्रयास न देख उन्होंने स्वयं खेलावन को समझाने की कोशिश की थी. उसने एक गहरी सांस छोड़ते हुए उदास और बुझे स्वर में कहा था - “उहैं तौ कौनो काम धंधा नहीं धरा है. इहां कुटुम (कुटुंब) का खर्चा पानी का जुगाड़ तौ हुई गवा है. लौट कर जाब तो महेस का पढ़ाई.....?” उसकी आवाज़ रुंध गयी थी और आगे कुछ बोल नहीं पाया था खेलावन. उसके अंतर्मन में उठती हलचल और पीड़ा को उसके चेहरे से मां ने पढ़ लिया था.

हम बच्चों का काम ही मां को काफ़ी व्यस्त रखता था. जब से खेलावन खांसने लगा था, मां नहीं चाहती थीं कि श्रेष्ठा खेलावन के पास जाये. उन्हें भय था कि किसी प्रकार का इन्फेक्शन उसे नालग जाय. उनकी लगातार यही कोशिश रहती कि श्रेष्ठा खेलावन के पास किसी प्रकार न जा पाये. इस प्रयत्न में उन्हें काफ़ी सचेत रहना पड़ता था, लेकिन कभी ऐसा अवसर भी आ जाता कि अपनी लाख कोशिशों के बावजूद वे उसे रोक न पातीं. श्रेष्ठा छूटते ही सीधी खेलावन के पास जा पहुंचती. वह उसे डांटती, रूठती और शिकायत करती कि खेलावन काका आजकल उसके साथ क्यों नहीं खेलते - खेलावन रुआंसा हो जाता. कान पकड़कर उससे माफ़ी मांगता. इस परदेस में एकमात्र श्रेष्ठा उसके दिल के करीब थी. उसका अकेलापन श्रेष्ठा की मीठी-मीठी बातों से दूर हो जाता. ये ही, वे पल हुआ करते जब खेलावन अपने सारे कष्टों, अभावों को भूल जाता. श्रेष्ठा में उसे अपनी मुन्नी की छवि दिखाई पड़ती थी, लेकिन अब ? उसे इन पलों के लिए तरसना पड़ता. वह अच्छी तरह समझता है कि उसकी खांसी के कारण बहूजी श्रेष्ठा को पास नहीं आने देती हैं. उसने अपने कानों से श्रेष्ठा को उसके पास आने की ज़िद में चीखते सुना है. उसकी चीखें खेलावन के मन को मथ कर रख देतीं. उसे लगता वह अब और सह नहीं पायेगा और उसकी छाती फट जायेगी.

सबेरे-सबेरे मां के डांटने की आवाज़ से मेरी नींद खुली. बात यह हुई कि पिछली रात खेलावन को काफ़ी बुखार था. मां ने ही उसे गर्म पानी के साथ ‘क्रोसिन’ की गोली खिलाई थी और चाय के साथ पावरोटी खाने को दी थी. सबेरे जब उन्होंने उसे बाहर-भीतर धुलाई करने के बाद ‘शेरू’ को मल-मल कर नहलाते देखा तो भड़क उठीं.

“काहे हमार जान हलकान करते हौ खेलावन? एकदमै खटिया पकड़ लैहौ तौ लड़कन का काम का साथ हमका तुम्हार

तीमारदारी करै पड़ी का नाही?”

खेलावन कान पकड़कर बोला - “का कहत हौ बहूजी! ई तकलीफ हम आपका ना देबै, चाहे हमार जान निकल जाय. आप मुदा निसा खातिर रहैं.”

मां ने कोई उत्तर नहीं दिया और शेरू के गले में बंधी चेन उसके हाथ से छीन ली. इसी क्रम में खेलावन के हाथ से उनका हाथ छू गया जो काफ़ी गर्म था. उन्होंने उसका माथा छुआ तो बुखार अब भी था. उन्होंने हल्के से डांट भरे स्वर में कहा - “आज डूटी जाय का दरकार नाही है.” खेलावन ने कोई उत्तर नहीं दिया और एक आज्ञाकारी बालक की भांति अपनी कोठरी की ओर बढ़ गया.

दोपहर के समय मां खिचड़ी और दवा ले कर उसकी कोठरी में पहुंची तो देखा खेलावन बुखार में बेसुध पड़ा है और उसका बदन गर्म तवे की तरह तप रहा है. उसकी हालत देख मां स्तब्ध रह गयीं. तुरंत ठंडा पानी लायीं. उसका सिर धुलाया और गीली पट्टी उसके माथे पर रखती रहीं. काफ़ी देर तक ऐसा करने के बाद उसकी आंखें दो क्षणों के लिए खुलीं और फिर बंद हो गयीं. यह देख मां घबरा गयीं क्योंकि तब-तक पापा लंच के लिए नहीं लौटे थे. उन्होंने तुरंत पड़ोस से फ़ोन करके पापा को इसकी खबर की और ऑफिस से अविलंब आने के लिए कहा. पापा आये और उसकी हालत देख उन्होंने उसे अस्पताल ले जाना ही उचित समझा. फ़ोन करके उन्होंने अस्पताल से एंबुलेंस बुलायी. खेलावन को अस्पताल में भर्ती कराया गया. डॉक्टर ने स्पष्ट शब्दों में बताया कि उसके फेफड़ों में काफ़ी इन्फेक्शन है. शरीर में खून की भी कमी है. ठीक होने में समय लगेगा.

पापा उसका हालचाल लेने रोज़ अस्पताल जाते. नर्स ने पापा से शिकायत की कि दवा तो वह खा लेता है लेकिन खाना नहीं खाता है. पापा को समझते देर नहीं लगी, क्योंकि वे जानते थे कि खेलावन गैर जात के किसी आदमी के हाथ का बना खाना नहीं खाता है. उन्होंने उसे बहुत समझाया तब जाकर कहीं माना. बीच-बीच में मां उसे देखने जातीं तो उसके लिए खाना लेकर जातीं. मां को देखकर उसकी आंखों में तरल आत्मीयता तैर जाती.

पूरे पंद्रह दिनों के बाद खेलावन अस्पताल से घर लौटा. उसकी सुंदर और सुडौल काया कंकाल मात्र रह गयी थी. दवा और पथ्य ने खेलावन को खड़ा होने लायक बना दिया. एक दिन उचित अवसर देख पापा ने गंभीर स्वर में कहा - “यह फैक्ट्री तुम्हें ज़िंदा नहीं छोड़ेगी खेलावन! तब महेश, मुन्नी, तुम्हारी घरवाली

और बूढ़े माता-पिता का क्या होगा? किसके सहारे जीयेंगे वे लोग? कभी सोचा है तुमने? बहूजी ने भी तुम्हें समझाने की कोशिश की लेकिन तुम नहीं माने. तुम्हारी और तुम्हारे घरवालों की भलाई इसी में है कि तुम उनके पास गांव लौट जाओ.” कहकर पापा चुप हो गये. खेलावन ने जवाब देना चाहा लेकिन उसके होंठ फड़फड़ा कर रह गये. कुछ नहीं बोल पाया.

पापा ने उसे वापस भेज देने का पक्का निश्चय कर लिया लेकिन उसकी कमजोरी को देखते हुए तत्काल यह संभव नहीं था. मां दोनों वक़्त खाना लेकर उसके पास जातीं. उनकी कोशिश होती कि खाना गर्म रहते वह खा ले. जब कभी उन्हें लगता कि उन्हें जाने में देर लगेगी तब मैं खाना लेकर जाता. हमारे घर का खाना खाने की वजह से उसका स्वास्थ्य तेज़ी से सुधरने लगा था. एक दिन हिम्मत करके उसने मां से अपना खाना खुद बनाने की बात कही. मां ने उसे डांट कर चुप करा दिया. तब डबडबाई आंखों से उसने कहा था - “हम कैसे आपका कर्जा चुकावै बहू जी. हमका लागत है कि आप हमार पिछले जनम की अम्मा हौ. नहीं त के पराया आदमी के वास्ते इतना करी.”

मां ने स्नेह से झिड़क कर कहा - “यहमा करजा - उरजा का कौनौ बात नहीं है.” खेलावन ने कभी मां की किसी बात का प्रतिवाद नहीं किया था.

आठ-दस दिनों के बाद पापा ने ऑफिस के एक चपरासी के साथ उसके जाने की व्यवस्था कर दी थी. उन्होंने ही अपने पैसों से उसका टिकट खरीदा था और अस्पताल में कह सुनकर उसके लिए महीने भर की दवा और टॉनिक लाकर दिया था. रास्ते के खर्च के लिए उन्होंने दो सौ रुपये भी उसके हाथों में रखे. घर से विदा होते समय खेलावन बच्चों की तरह रो पड़ा जब मां ने उसकी घरवाली के लिए साड़ी-जाकिट उसके हाथों में रखी. मां ने स्नेह भरा हाथ उसके सर पर रखा लेकिन वे कुछ कह नहीं सकीं. उनकी आंखों से भी आंसू बह चले थे.

चलते समय उसने श्रेष्ठा को गोद में उठाया और अपने सीने से भींच लिया. उसने रुंधे गले से कहा - “ई जनम मा तौ आपसे दुबारा भेंट होई इ मुमकिन नाहीं लागत है.” अगला वाक्य उसकी रुलाई में डूब गया. खेलावन को रोता देख श्रेष्ठा भी रोने लगी. वह किसी प्रकार उसकी गोद से उतरने को तैयार न हुई. अंत में मा ने ही एक प्रकार से ज़बरदस्ती उसकी गोद से श्रेष्ठा को खींच कर अपनी गोद में लिया और वहां से हट गयीं.

अपनी आंखों में सुनहरे सपने संजोये जमशेदपुर आने वाला

## कविता

### युद्ध

अजित श्रीवास्तव

गांधी लड़ रहा है,  
कहीं बुद्ध लड़ रहा है  
इस दौर का हर व्यक्ति  
एक युद्ध लड़ रहा है,  
है अमेरिकी निगाह  
अब हिंदोस्तान पर  
आतंक की चर्चा यहां  
सबकी जुबान पर,  
महंगाई चढ़ी जा रही है  
आसमान पर,  
जूं रेगता नहीं है अब  
किसी के कान पर,  
मूर्खता की सीढियां  
प्रबुद्ध चढ़ रहा है.  
इस दौर का हर व्यक्ति  
एक युद्ध लड़ रहा है.

‘शिवकृपा’, सी-४/२०४-१ कालीमहल,  
वाराणसी (उ.प्र.)

खेलावन बीमार चेहरा और दुर्बल काया ले गांव लौट रहा था. पापा के साथ मैं भी उसे गाड़ी पर चढ़ाने स्टेशन गया. गाड़ी खुलने तक हम खामोश प्लेटफॉर्म पर ही खड़े रहे. गाड़ी खुली तो खेलावन ने डबडबाई आंखों से दोनों हाथ जोड़ दिये. जब तक हम उसकी नज़रों से ओझल नहीं हुए वह इस ओर ही देखता रहा. अपने उमड़ते आंसुओं को छिपाने के लिए वह खिड़की से बाहर देखने लगा. शहर पीछे छूटता चला जा रहा था. अब कारखाने की चिमनियों से उठता धुआं ही नज़र आता था. यह धुआं घना होता हुआ धीरे-धीरे उसके मन पर पसरता गया. जड़ीभूत खेलावन लगातार शून्य में ताकता रहा.

द्वारा - डॉ. सी. भास्कर राव, ५९ एअर बेस कॉलोनी,  
पी.ओ. कदमा, जमशेदपुर (झारखंड) ८३१००५.  
मो. ९९३९१५२९०२

## आश्रयदाता

उसे देखने की अमर को आदत सी हो गयी है. जिस दिन वह नहीं दिखाई देता उस दिन अधूरापन लगने लगता. यदि गणना करें तो पिछले दो सालों से अमर उसे किसी न किसी रूप में देखता चला आ रहा था, क्योंकि इस दफ्तर में स्थानांतरित होकर आये उसे इतना ही समय हुआ है. अमर के दफ्तर से लगभग सटा हुआ है विकासखंड का दफ्तर, जिसके सामने एक बड़ा-सा समतल मैदान है. पता नहीं कितने ही वर्षों पूर्व किसी अधिकारी ने इस मैदान की तारों से फेंसिंग करवा दी थी. फेंसिंग भी अब नाममात्र की बची है, सीमेंट के बने खंभों के टुकड़े अनेक जगह से ढह गये हैं और कटीलें तार जो अब कंटीले नहीं रहे थे, नीचे ज़मीन छूने लगे हैं जिन्हें फांद कर मैदान में आने में कोई कठिनाई नहीं होती है. वास्तव में इस दफ्तर तक आने के लिए मैदान का लंबा चक्कर लगाना पड़ता है, इसलिए ज़्यादातर लोग तारों को लांघकर आते हैं. मैदान के किनारों पर नीलगिरी के टूठ जैसे दो चार पेड़ तने हुए हैं, जिनके नीचे एक कर्मचारी नेता के संरक्षण में चाय वाले ने ठेला लगा रखा था. चाय के इस ठेले के आसपास बाबू लोग और उनके कथित दलाल या जिन्हें विकासखंड अथवा अन्य दफ्तरों से काम करवाना है, ये लोग चाय की चुस्क्रियों के साथ बतियाते रहते हैं. विकासखंड के सामने दूर तक फैले मैदान में रोज सुबह के आठ बजे से ही ज़रूरतमंद लोग आकर बैठ जाते हैं. इन तरह-तरह के लोगों की भीड़ के बीच में अमर अक्सर उसे देखता रहता था. उस व्यक्ति में कुछ ऐसा आकर्षण था कि अमर की निगाहें सहज उसकी ओर चली जाती थीं. दुबला-पतला छः फुटा लंबा शरीर, झुकी हुई अर्द्ध धनुषाकार कमर, हाथ में पुरानी काली सी लाठी जिसके सहारे वह इंच-इंच खिसकता चलता था. उसकी उलझी हुई गुठलियों वाली सफ़ेद दाढ़ी के बीच चेहरे का रंग पहचानना मुश्किल काम था. आंखों पर मोटा चश्मा जिसकी कमानी मोटे धागे से बनी हुई है, जो उसके दोनों कानों पर लपेटी हुई है. उम्र यही कोई पचहत्तर वर्ष के आसपास की होगी. कपड़ों के नाम पर उसके शरीर पर जगह-जगह से पैबंद लगा पुराना कुर्ता व घुटने तक चढ़ी धोती दिखाई देती है. पांवों में पुराने चप्पल हैं जो अनेक

जगह से फटे हुए हैं. शायद किसी कंजूसदानी ने उसे उदारतापूर्वक ये चप्पल दे दिये होंगे या उसने ही किसी घूरे के ढेर से खोज लिये होंगे. वह भिखारी न होकर भी भिखारी जैसा दिखाई देता है.

अमर अपने दफ्तर में बैठे-बैठे प्रायः पास वाले दफ्तर के नित नये नज़ारे देखता व सुनता रहता था. शहर के आसपास के गांवों के जीवन की धड़कन विकासखंड के दफ्तर में ही मचलती है. दफ्तर के अधिकारी कर्मचारियों से लेकर गांव के पंच-सरपंच या सरपंचपति तक की चटखारे वाली खबरें बैठे-ठाले अमर को सुनने को मिल जाती थीं, जो कि कभी अच्छी तो कभी बुरी लगती थीं. इन खबरचियों से ही अमर यदाकदा उस बूढ़े धनसिंह के बारे में भी पूछ लिया करता था. उस बूढ़े का नाम धनसिंह है,

### ११ कैलाशचंद्र जायसवाल ११

यह भी अमर को कुछ दिनों पहले ही पता चला था. अमर एक दिन अपने दफ्तर के बाहर खड़ा था तब धनसिंह धीमे-धीमे चलकर उसके पास आया. धनसिंह के हाथ में एक फॉर्म था. उसने पूछा, 'बाबूजी यह फॉर्म कहां जमा करना है?' अमर ने बिना फॉर्म देखे ही लापरवाही से कह दिया, 'सामने उस लंबी लाईन में लग जाओ, बाबा, वहीं फॉर्म जमा होंगे.' धनसिंह ने कांपते स्वरों में, 'बड़ी मेहरबानी साहब,' कहा और लाठी टेकते हुए जिधर लाईन लगी थी, उधर चल पड़ा. दरअसल अमर का ऐसी जानकारी लेने वालों से रोज ही सामना हो जाता है, क्योंकि वह जिस सरकारी बस से दफ्तर आता था, वह जल्दी आ जाती थी और प्रायः अमर को अपने दफ्तर के दरवाज़े खुलने का इंतज़ार करना पड़ता था. विकासखंड के दफ्तर में आने वाले उससे तरह-तरह की जानकारी पूछते रहते हैं. इससे अमर का समय कट जाता था. जब पूछताछ करने वाला कोई नहीं होता तो वह लोगों की लंबी क़तार को निहारता रहता था.

क़तार में तरह-तरह के लोग हैं, इनमें औरतों की संख्या ज़्यादा है. अधिकांश ने बुरके पहन रखे हैं. काले बुरके भी झिल्ले हो गये हैं और जगह-जगह हुए छेदों से बालों की चांदी साफ़

झलकती है. पोपले मुंह में जर्दे की चुटकी दबाये यहां-वहां पिच्च से थूकते, फेफड़े व बलगम उगलते लोग क्रतार के आगे खिसकने की उतावली व बैचेनी से घिरे हैं. बातों की बातों में धक्का-मुक्की होने व भोपाली गालियों की बौछार से उठता शोर आसपास के दफ्तरों तक सहजता से पहुंच जाता है. क्रतार में कुछ ऐसे भी लोग हैं जो अपने दूर के सगे संबंधी या पड़ोसी का हाथ थामे आये हैं जो ज्यादा देर खड़े नहीं रह सकते. वे बैठ जाते हैं और बैठे-बैठे ही खिसकते रहते हैं. कुछ बैठे, कुछ खड़े लोगों की रेंगती हुई इस क्रतार में कुछ ऐसी जवान औरतें भी हैं जो अपने बुजुर्ग रिश्तेदार को लेकर आयी हैं. इन औरतों को आसपास के दफ्तरों के बाबुओं की ललचायी नज़रों का भी सामना करना पड़ता है. क्रतार में लगे लोगों के हाथ में लगभग एक ही तरह का मुड़ा-तुड़ा मटमैला फॉर्म है. यह फॉर्म इतनी सावधानी से पकड़ा हुआ है मानों पूरी आशाएं, विश्वास एवं खुशियां इसमें ही कैद हैं. यह फॉर्म खिड़की पर जाकर बड़े बाबू के पास जमा होते ही सारी तकलीफें दूर हो जाने की आशा हर कोई अपने मन में संजोये क्रतार में खड़े होने का कष्ट झेल रहा है. फॉर्म मुट्टियों में कसकर पकड़ रखा है कि कहीं छूट नहीं जाय. इन लोगों की आंखों में तैरता कातरभाव व चेहरे पर लाचारी को देखकर सहज करुणा उत्पन्न हो जाती है. एक ओर गरीबी और दूसरी ओर जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है इनका निराश्रित होना. सबको एक ही दर्द, एक ही तकलीफ है कि इनका कोई सहारा नहीं है. कोई निःसंतान है, तो किसी को संतान ने घर से निकाल दिया है, कोई विधवा है तो कोई परित्यक्ता होने का विषपान कर रही है. किसी को अपंगता ने लाचार बना दिया है तो कोई लाइलाज बीमारियों के कारण घर से निकाल दिया गया है. ये सब सरकार द्वारा दी जाने वाली निराश्रित पेंशन प्राप्त करने की जुस्तजू में क्रतार में खड़े हैं. ऐसी बात नहीं कि ये चुपचाप हैं. ये अपने अपने तरीके से बतिया रहे हैं और कुछ की आंखें बातों ही बातों में पनीली हो जाती हैं. दफ्तर के रोज-रोज चक्कर लगाना, बाबुओं की झिड़की व फटकार यह सब सहन करना उनकी मजबूरी बन गयी है. क्रतार में नेतानुमा दो-चार दलालों का आकर अपने जाल में फांसने का प्रयास करना रोजमर्रा की बात है. अमर ने देखा कि धनसिंह भी क्रतार में जाकर खड़ा हो गया है और एक दलाल उसके पास पहुंच गया है. दलाल के हाथ में धनसिंह का फॉर्म है और वह धनसिंह को कुछ समझा रहा है.

अमर ने कुछ दिनों बाद, यही कोई एक सप्ताह के अंतर से उसे फिर देखा. अमर हमेशा की भांति दफ्तर के बाहर खड़ा था,



*(Handwritten signature)*

१ जनवरी १९५२, ग्राम-बिस्टान, जिला -खरगोन (म.प्र.);  
एम.ए. (हिंदी).

**लेखन** : देश की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में कहानियां, लेख, कविताएं, व्यंग्य एवं लघुकथाएं निरंतर प्रकाशित.

**प्रकाशन**: 'पुतले बिकाऊ हैं' 'अजगर बैठे आसन पर' (दोनों व्यंग्य-संग्रह) प्रकाशित. काव्य संग्रह 'इंच इंच तुम्हारे पास' काव्य-संग्रह प्रकाशनाधीन,

**संपादन**: 'सहस्रबाहुचरित्रम' (पुस्तक), 'हैहय क्षत्रिय संसार' (मासिक), 'स्वर्णोतुंग' (काव्य संग्रह), 'व्यंग्य - मध्यप्रदेश से' (व्यंग्य संग्रह) एवं 'कहानियां मध्यप्रदेश से' (कहानी संग्रह) के सहयोगी संपादन.

**विशेष** : राष्ट्रीय सेवा योजना के अंतर्विश्वविद्यालय शिविर में शिक्षाकाल में महाविद्यालय का प्रतिनिधित्व. अनेक वाद-विवाद, भाषण व निबंध प्रतियोगिताओं के विजेता. कुशल मंच संचालक. लघु नाटिकाओं का लेखन.

**सम्मान** : अखिल भारतीय भाषा साहित्य सम्मेलन द्वारा 'समन्वयश्री' व म.प्र.पत्र लेखक मंच (बैतूल) द्वारा 'साहित्य श्री' से अलंकृत.

**संप्रति** : म.प्र.लेखक संघ के प्रादेशिक मंत्री व सहकारिता विभाग म.प्र. में अंकेक्षण अधिकारी

धनसिंह लाठी टेकते उसके पास आ गया. दोनों हाथ जोड़कर अमर को अभिवादन किया तो उसने सहज पूछ लिया - 'क्यों बाबा फॉर्म जमा हो गया?' धनसिंह शायद यह पूछे जाने का इंतज़ार ही कर रहा था. बोला - 'क्या बताऊं साहब. हम लोगों को तो मौत भी नहीं आती है, रोज ईश्वर से इस जलालत भरी ज़िंदगी से छुटकारा मांगते हैं, पर वह भी नहीं सुनता. जाने कब तक इस दुनिया में ठोकरे खाते रहेंगे. उस रोज मेरा फॉर्म जमा ही

नहीं हुआ। घंटों लाईन में खड़े रहने के बाद जब मेरा नंबर आया तो बड़े बाबू ने फॉर्म नहीं लिया और कहा इस पर वार्ड मेम्बर, डॉक्टर और तहसीलदार की साईन करवाकर लाओ। अब आप ही बताओ साहब की डॉक्टर व तहसीलदार तक जाना हमारे बस की बात है? बहुत धक्के खाये इस बूढ़े शरीर ने जनाब। तहसील के बाबू ने पचास रुपये लिये तब तहसीलदार के साईन करवाये। जैसे जैसे डॉक्टर व वार्ड मेम्बर ने भी साईन कर दिये हैं। देखो साब। जरा आप ही देख लो। अब तो फॉर्म ठीक है, जमा हो जायेगा ना?’ धनसिंह बिना रुके इतनी बातें बोल गया। उसकी सांस फूलने लगी थी। अमर ने अनचाहे ही धनसिंह के हाथ से मुड़ा-तुड़ा फॉर्म ले लिया और सरसरी निगाह डाल दी। देखा सामाजिक सुरक्षा पेंशन का फॉर्म था जो कि सामान्यतः ठीक भरा हुआ था। डॉक्टर व तहसीलदार की मोहरें लगी थीं, जिस पर छोटी सी चिड़िया बैठी हुई थी। धनसिंह ने मोहर की तरफ इशारा कर पूछा - ‘ठीक लगी है ना साब जी। इस मोहर को लगवाने में बहुत परेशानी हुई। मोहर लगाने वाले ने भी बीस रुपये झटक लिये। अब तो कोई कमी नहीं है।’ अमर ने उसे फॉर्म वापिस थमाते हुए कहा, ‘सब ठीक है, आज तो तुम्हारा फॉर्म जमा हो ही जायेगा।’ अमर की बात सुनकर जाने कहां से मुरझाये धनसिंह की आंखों में चमक आ गयी। ऐसा लगा मानो उसे सामाजिक सुरक्षा पेंशन ही मिल गयी हो। वह उत्साहपूर्वक क्रम बढ़ाता हुआ लाईन में जाकर खड़ा हो गया।

सामाजिक सुरक्षा पेंशन लेने आये इन निराश्रित लोगों की बेबसी देखकर अमर का हृदय द्रवित हो जाता है। अनेक बार उसका मन करता है कि दौड़ कर इन गरीबों की मदद करे, लेकिन वह केवल सोच कर ही रह जाता है। महीने भर में सौ या डेढ़ सौ रुपए में इनकी सुरक्षा का दावा करना कितना खोखला लगता है। असुरक्षा की कल्पना मात्र से अमर के शरीर में कंपकपाहट आ गयी। बुढ़ापे में जब शरीर के अंदर दौड़ने वाला खून ही साथ देने योग्य न हो, संतान या कोई रिश्तेदार भी न हो तो भला कोई कैसे जी पायेगा। निराश्रित का दर्द ईश्वर भी नहीं समझ पाता। अमर को धनसिंह के बारे में यह बात पता है कि उसका एक बेटा है, लेकिन वह भी रोज़ी रोटी की तलाश में अपनी बीबी-बच्चों को लेकर कहीं चला गया है। उसे गये दस वर्ष से अधिक हो गये। शुरू-शुरू में कभी कभार आकर धनसिंह को कुछ पैसे दे जाता था, किंतु बाद में उसका आना भी बंद हो गया। धनसिंह की पत्नी भी अब इस दुनिया में नहीं है। धनसिंह के पास छत के नाम पर एक झुग्गी है, जिसके आधे हिस्से पर एक छुटभैये दादा ने कब्जा जमा रखा

है। जिस व्यक्ति ने झुग्गी के आधे हिस्से पर कब्जा जमा रखा है, वह कभी कभार धनसिंह को कुछ खाने को दे देता है, इस लालसा में कि एक न एक दिन यह बूढ़ा मर जायेगा तो पूरी झुग्गी का मालिक वह स्वयं बन जायेगा। अमर को धनसिंह ने ही ये बातें बतायी थीं।

कुछ दिन बाद धनसिंह फिर दफ़्तर के पास मिल गया। उसके हाथ में अभी भी वही फॉर्म था। अमर ने सहज उससे पूछ लिया - ‘क्यों बाबा फॉर्म जमा नहीं किया?’ अमर की बात सुनकर धनसिंह की आंखें तिरमिरा गयीं। दुखी होकर बोला - ‘नहीं हुआ साहब। इस बार यह कहकर बाबू ने लौटा दिया कि डॉक्टर ने मेरी उम्र पचास वर्ष लिख दी है। मैं तो अनपढ़ ठहरा। यदि डॉक्टर ने गलत लिख दिया तो मैं क्या करूं? आप ही बतायें मैं पचहत्तर साल का बूढ़ा क्या पचास साल का लगता हूं!’ अमर ने उसके हाथ से फॉर्म लेकर देखा। उम्र वाले कॉलम में पचास वर्ष अंकित था। अमर के मन में विचार कौंधा कि क्यों न वही इस त्रुटि को सुधार दे। वह बेचारा बूढ़ा कब तक भटकता रहेगा। उसने धनसिंह से कहा - ‘जरा रुको बाबा मैं इसे ठीक कर देता हूं।’ अमर ने अपने पेन से अंग्रेजी के पांच को सात बना दिया व उसके पास लघु हस्ताक्षर कर दिये। उसने फॉर्म धनसिंह को वापिस करते हुए समझाया - ‘बाबा अब फॉर्म जमा करने जाना और कहना कि डॉक्टर ने सुधार दिया है। पूछने पर अपनी उम्र सत्तर साल ही बताना।’ अमर की बात सुनकर धनसिंह के झुर्री भरे चेहरे पर खुशी की लहरें तैर गयीं। उसने ढेर सारी दुआएं दीं और फिर से लंबी क्रतार में लग गया। धनसिंह के फॉर्म में उम्र का सुधार करने से अमर को भी खुशी हुई। उसने सोचा गलत ढंग से ही सही पर एक निराश्रित का भला तो होगा। इसके बाद बहुत दिनों तक धनसिंह दिखाई नहीं दिया। अमर को लगा शायद उसकी पेंशन मंजूर हो गयी होगी।

लगभग एक महीने बाद की बात है। एक दिन अमर पीरगेट पर चाय की दुकान पर खड़ा चाय की चुस्कियां ले रहा था। अचानक उसकी नज़र सामने दुर्गा जी के मंदिर के पास भीख मांगते हुए धनसिंह पर पड़ी। अमर ने सोचा आज इससे पूछूंगा कि सामाजिक सुरक्षा पेंशन मिलने लगी या नहीं। अमर की प्याली से चाय पूरी खत्म हो इसके पहले ही मंदिर के पास भिखारियों में शोर मच गया। कुछ भिखारी धनसिंह को मंदिर के पास से धक्के मार कर भगा रहे थे। इस धक्का मुक्की में धनसिंह नीचे गिर गया। अमर से रहा नहीं गया। उसने चाय की प्याली रखी और दौड़कर धनसिंह के



पास गया। उसे भिखारियों के कोप से बचाकर थोड़ी दूर आगे ले आया। सुरक्षित जगह खड़ाकर उससे पूछा - 'बाबा, तुम्हारा फॉर्म जमा हुआ या नहीं? क्या पेंशन मिलने लगी? धनसिंह ने अपनी पनीली आंखों से अमर की आंखों में झांकते हुए कहा - 'साब! फॉर्म तो जमा हो गया, किंतु पेंशन मंजूर करने व पासबुक देने के लिए बड़े बाबू ने तीन सौ रुपये मांगे हैं। अब मैं तीन सौ रुपये कहां से लाऊं। यहां माताजी के मंदिर पर भीख मांग रहा हूं, ताकि कुछ पैसे इकट्ठे हो जायें तो बड़े बाबू को भेंट में दे सकूं। लेकिन जो भिखारी पहले से यहां खड़े रहते हैं वे मुझे धक्के मारकर भगा देते हैं।' कहते-कहते धनसिंह हांपने लगा। उसकी बातें सुनकर अमर तिलमिला गया। आवेश से उसकी मुट्टियां कस गयीं। पर अगले ही क्षण ढीली हो गयीं, क्योंकि वह अपनी नपुंसक विवशता को जानता था। घूसखोरी के मायाजाल को तोड़ना आसान नहीं था। उसके मुंह से कड़वा थूक आ गया। उसने सड़क पर घूसखोरी के नाम पर थूका। अमर ने चाय दुकान पर ले जाकर धनसिंह को चाय पिलाई। धनसिंह ने आगे बताया कि, 'भीख मांग कर उसने ढाई सौ रुपये जमा कर लिये हैं। जब तीन सौ हो जायेंगे तो बड़े बाबू को दे आऊंगा।' अमर से रहा नहीं गया। अपनी तमाम ज़रूरतों को भूलकर उसने धनसिंह को पचास रुपये का एक नोट दिया और कहा - 'बाबा अब जाओ! कल उस बाबू को पैसा दे आना।' धनसिंह ने उसे आशीर्वाद दिये और धीरे-धीरे लड़खड़ाते कदमों से चला गया।

करीब एक सप्ताह बाद जब अपने अपने दफ्तर के बाहर खड़ा था कि धनसिंह फिर दिखाई दिया। पहले से ज़्यादा कमज़ोर हो गया था। शायद बीमार था। अमर के पास आया और कहा - 'साब आपकी दया से मेरी पेंशन मंजूर हो गयी है और आज बड़े बाबू ने पासबुक लेने के लिए बुलाया है।' अमर ने कहा - 'चलो अच्छा हुआ बाबा अब तुमको भटकना नहीं पड़ेगा। जाओ जाकर अपनी पासबुक प्राप्त कर लो।' अमर की बात सुनकर धनसिंह क्रतार में खड़ा हो गया। आज भी क्रतार बहुत लंबी थी।

गरमी के दिन थे। चिलचिलाती धूप में निराश्रितों की लंबी क्रतार। न पीने के पानी की व्यवस्था न धूप से बचने के लिए कोई छाया। सरकारी दफ्तरों के सामने ऐसे दृश्य रोज़ ही दिखाई देते हैं। दोपहर दो बजे के आसपास का समय होगा। अमर अपने दफ्तर में बैठा काम कर रहा था। उसके चेहरे पर बार-बार पसीने की बूंदें तैर जाती थीं। इतने में बाहर विकासखंड के दफ्तर के पास भगदड़ मच गयी। शोर-शराबा सुनकर अमर भी बाहर आया। बाहर का दृश्य देखकर अमर सहम गया। निराश्रित पेंशन पाने वालों की क्रतार में

## कविता

### और अभी कितने हैं दूर?

वेद व्यास

और अभी कितने हैं दूर  
किरणों में डूबे वे गांव,  
जहां सभी इच्छा के पुत्र  
खोज रहे अपना अस्तित्व।

बहुरंगी दृष्टि के चक्र  
परिवर्तित अर्थों के बीच,  
अपने को कहते जो पूर्ण  
लगतें हैं बौने - भयग्रस्त।

बीत रहे सारे दिन व्यर्थ  
सिमट रहे सूर्यमुखी द्वार,  
कुछ भी कह पाने से पूर्व  
चुक जाते सारे युगमान।

पश्चिम के बिखर रहे सूत्र  
रक्त सने समय संकेत,  
धुंधले जब पड़ते विस्तार  
सीमित हो जाती है सृष्टि।

चिंतन जब थके हुए हों  
परिभाषा बदलेगा कौन,  
अविरल कोलाहल के बीच  
उभर नहीं पाते दायित्व।

और अभी कितने हैं दूर  
महकते गुलाबों के स्वर,  
जहां सभी इच्छा के पुत्र  
खोज रहे कस्तूरी गंध।

अध्यक्ष, 'राजस्थान साहित्य अकादमी',  
७/१२२ मालवीय नगर, जयपुर-३०२०१७

खड़ा एक वृद्ध नीचे गिर पड़ा है। कुछ लोग उसे उठाने का प्रयास कर रहे हैं, पर बूढ़ा निष्प्राण पड़ा हुआ है। उधर दफ्तर की खिड़की से बड़ा बाबू बार-बार आवाज़ लगा रहा है - 'धनसिंह वल्द चमनलाल अपनी पासबुक ले लो।' लेकिन अब धनसिंह को निराश्रित पेंशन की पासबुक की ज़रूरत नहीं थी, वह सबके आश्रयदाता के दरवाजे पर दस्तक देने जा चुका था।

अनुराग भवन, पंचवटी नगर फेस-२, करोंद,  
भोपाल (म.प्र.) ४६२०३८. मो. - ९८९३७२०९९१

## क्योंकि मैं एक स्त्री हूँ

**आ**ज तेईस दिसंबर है. तेईस दिसंबर....तुम्हारे जन्म का दिन...आज पूरे अठारह साल के हो गये हो तुम...कैसे दिखते होंगे...कोई....पांच साल पहले तुम्हारी एक तस्वीर देखी थी. वही भोला-भाला चेहरा, शरारती आंखें बस होंठों के ऊपर जो काली रेखा उग आयी थी, वही एक नयी थी....तुम कितने भी बड़े हो जाओ बेटे.....मैं तुम्हें हज़ारों में पहचान सकती हूँ. आखिर मैं तुम्हारी मां हूँ.....

कितने वर्ष हो गये तुम्हें देखे, पूरे तेरह वर्ष.....बारह वर्ष बाद तो राम भी अयोध्या लौट आये थे.....तुम कब लौटोगे बेटा.....? अब तो तुम इतने बड़े हो चुके हो, कि अपनी मां के पास आ सको. अच्छे-बुरे की समझ भी तुम्हें हो चुकी होगी.... तुम यह भी जान चुके होंगे, कि तुम्हारी मां मरी नहीं थी, ज़िंदा है आज भी. कहीं तुमने भी तो मुझे दोषी करार नहीं दे दिया? कहीं तुम खुद तो नहीं चाहते, कि मैं तुमसे नहीं मिल पाऊँ? कहीं तुमने अपने पिता की बातों को सच तो नहीं मान लिया बेटा. दिमाग 'हां' कहता है, पर मन 'ना' बोलता है.

मेरे लिए आज भी तुम पांच वर्ष के सोनू हो, जो हर क्षण मेरे पास रहना चाहता था. मेरे सीने से लिपटकर ही सोता था. मुझे याद है तुम्हारे गर्भ में आने से पहले मैं बीमार थी. डॉक्टर ने सख्ती से कहा था कि गर्भ ठहरना जानलेवा हो सकता है.....फिर भी तुम्हारे पिता ने.....बड़ी मुश्किल से डॉक्टर ने हम दोनों को बचाया था. तुम्हारे पिता पूरे नौ महीने गायब रहे और मैं तुम्हारी उपस्थिति के सहारे दिन काटती रही. तुम्हारे जन्म से मुझे नया जीवन मिला था. बहुत ही सुंदर थे, तुम.... बिल्कुल गोलू-मोलू, बड़ी-बड़ी कजरारी आंखें, रेशमी बाल....जो भी देखता प्यार करता. मैं तुम्हें पाकर खुश थी, पर अपनी विषम स्थिति में तुम्हारे पिता का पलायन मुझे आहत कर चुका था. कैसे पति थे वे, जिन्हें अपनी पत्नी की ज़िंदगी - मौत से भी मतलब नहीं था. पुत्र के जन्म की खबर से भी नहीं लौटे थे. तुम्हारे साथ पीहर में पूरे डेढ़ साल मैं बनवास काटती रही. आज जितने वर्ष के हो तुम.....उतनी भी तो नहीं थी मेरी उम्र..... डेढ़ साल बाद वे लौटे भी तो अजीब पूर्वाग्रह के साथ. मुझे रूलाने, जलाने, अपमानित करने से उनका

पुरुष अहं संतुष्ट होता था. मैं कुछ भी समझ नहीं पा रही थी. बार-बार उनसे अपना अपराध पूछती, पर कोई उत्तर नहीं मिलता. अपने घर ले जाने को भी वे तैयार नहीं थे. मैं दिन-प्रतिदिन घुलती जाती थी. ये बेरोज़गार हैं, शायद इसलिए ऐसा है. यही सोचती मैं अभावों में दिन गुज़ारती रही. एक-एक कर पांच वर्ष गुज़र गये थे. मेरी अवस्था पागलों-सी हो गयी थी. मायके वालों के तानों से मन छलनी हुआ जाता था. पास-पड़ोस की चुभती आंखें, पैसे-पैसे की तंगी....तुम्हें दूध तक नहीं मिल पाता था मेरे बेटे, फटी नेकर में ही तुम घूमते थे. मैं अपने को भूल चुकी थी, पर तुम्हारे अभाव देखे नहीं जाते थे. तुम्हारे पिता से मैं हार चुकी थी. तभी मेरे अंदर

### ११ डॉ. रंजना जायसवाल ११

की स्त्री विद्रोह कर बैठी....उसने फ़ैसला किया कि बस अब और नहीं....पूरे पांच वर्ष उसने इंतज़ार किया था कि उसका पुरुष उसे एक सम्मानजनक जीवन देगा, पर नहीं दे सका, तो वह खुद करेगी कुछ. अपनी अधूरी शिक्षा पूरी करके अपने पैरों पर खड़ी होगी. अपना तथा अपने बच्चे का पालन-पोषण अपने बल पर करेगी.

मैंने एम.ए. में दाखिला लिया. ट्यूशन करने लगी, तो तुम्हारे पिता बौखला उठे. उन्हें मेरा यह निर्णय अपमानजनक लगा और वे मुझे तोड़ने की कोशिश में लग गये. आस-पड़ोस, रिश्तेदारों में घूम-घूमकर वे मेरी बुराई करने लगे. जब प्रतिदिन मुझे समझाने के लिए रिश्तेदार आने लगे, तो मेरा इरादा और भी पक्का हो गया. फिर वे तरह-तरह की बीमारियों का नाटक करने लगे. कभी हार्ट-अटैक, तो कभी तपेदिक और जाने क्या-क्या....? मैं फिर भी अडिग रही. फिर उन्होंने तलाक़ की धमकी दी. मैं डरी नहीं, तो वे बिफर पड़े और तेज़ाब की शीशी लेकर घूमने लगे..... तब मैं डर गयी. हां, बेटे.....डर गयी मैं....और यह डर इतना हावी हुआ मुझ पर, कि फिर कभी नहीं लौट सकी उनके पास.....चाहकर भी! तब भी...जब वे तुम्हें लेकर एक दिन भाग खड़े हुए..... मैं रात-रात भर रोती-तड़पती रही. पालगपन की हद तक पहुंच गयी, पर तुम्हारे पास नहीं लौट

सकी.....

आज इतने वर्ष बाद पुराने जख्मों को कुरेद रही हूं. दूढ़ रही हूं अपनी गलतियां....दूर खड़ी देख रही हूं....समीक्षा कर रही हूं, तेरह वर्ष पुरानी बातों का...पर समझ नहीं पा रही, कि मेरी गलती क्या थी? क्यों अलग कर दिये गये थे तुम मुझसे....और फिर क्यों नहीं आ सके तुम मेरे पास.....ये सच है कि प्रतिशोध में जलते तुम्हारे पिता ने तुम्हें मोहरा बनाया. ....मुझे तोड़ने, कुचलने...नष्ट करने के लिए....उन्होंने कहा भी कि, 'जीवन भर तड़पायेंगे पुत्र के लिए.' पर क्यों? मैंने उनका क्या बिगाड़ा था? अपने पैरों पर खड़े होने की कोशिश ही तो की थी. अपने और तुम्हारे लिए एक बेहतर ज़िंदगी की चाहत ही तो की थी. वह भी तब, तब कोई विकल्प नहीं बचा था मेरे पास. पूरे पांच वर्ष गवां तो दिये थे...इंतज़ार में....बेटे, क्या तुम भी मुझे अपराधी समझते हो.....? फिर क्यों नहीं तुमने ज़िद की, मेरे पास आने की.....? क्या इतनी बुरी हो गयी थी मैं, कि सौतेली मां के साथ तुमने बारह वर्ष गुज़ार लिये और अपनी सगी मां के पास एक दिन के लिए भी नहीं आ सके.

कहीं सच ही तो तुमने मुझे मरा हुआ नहीं मान लिया है. दस वर्ष पूर्व मेरे मामा तुम्हारे घर गये थे. तुमसे भेंट हुई तो उन्होंने पूछा था - 'मम्मी के पास चलोगे', तो तुमने घृणा से कहा था - 'मेरी मां तो मर चुकी है.' तुम नहीं जानते बेटे, इस एक वाक्य ने कितना-कितना रुलाया है मुझे....मैं मन को समझाती रही कि पिता के झूठ ने तुम्हें सच्चाई से महरूम रखा है. तुम स्वेच्छा से ऐसा नहीं कह सकते, नहीं कह सकते....यह कैसा विश्वास है बेटा. शायद यह मां होने का अभिशाप है कि सच तो सुनकर भी मन विश्वास नहीं करता. ऐसा क्यों लगता है कि कम से कम तुम तो मुझे समझोगे....! तुम तो मेरे रक्त-मांस से बने हो....तुम्हारी रगों में मेरा ही दूध रक्त बनकर दौड़ रहा है.... बेटे, रोज़ रात को सपने में मुझे एक बच्चा दिखता है....पांच वर्ष का.... कभी पास आता है, तो कभी दूर चला जाता है. कभी खो जाता है. दूढ़ती हूं, उसे....नहीं मिलता है तो रोती-छटपटाती हूं....सुबह तकिया आंसुओं से तर मिलता है. प्रतिदिन यही क्रम .....तुम उसी अवस्था में मेरे मन में अंकित हो चुके हो. जब मुझसे अलग कर दिये गये थे. मेरा दुःख कौन समझ सकता है? शायद कोई नहीं. मेरे जीवन का ऐसा पक्ष.....ऐसा दुःख, जिसे मेरे अलावा सिर्फ़ ईश्वर जानता है....वह तुम हो बेटे. सिर्फ़ तुम.

हां, यह भी सच है कि तुम्हारे जाने के बाद मेरे जीवन में कई परिवर्तन हुए.....मेरे कई रूप उभरकर सामने आये, पर उन्होंने कभी भी तुम्हारी जगह नहीं छीनी....तुम अमूल्य रत्न की तरह



रंजन वािशुवाल

०३ अगस्त (पूर्वी उत्तर प्रदेश के पड़रौना कस्बे में);  
गोरखपुर विश्वविद्यालय से 'प्रेमचंद' का साहित्य और नारी  
जागरण विषय पर पी.एच.डी.

- लेखन** : वर्तमान साहित्य, वसुधा, हंस, वागर्थ, समकालीन जनमत, चाणक्य-विचार, नया ज्ञानोदय, संभवा, पुरुष, आवर्त, उद्भावना, निष्कर्ष, संवेद, उत्तर प्रदेश, वचन, इतिहास बोध, समकालीन भारतीय साहित्य, कादंबिनी, प्रतिश्रुति, कथाक्रम सहित देश की तमाम प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं और कहानियां व लेख प्रकाशित.
- विशेष** : साहित्य के अलावा स्त्री मुक्ति आंदोलनों तथा जनवादी सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सक्रिय भागीदारी. आठ वर्षों से साहित्यिक संस्था 'सृजन' के माध्यम से निरंतर साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन.
- प्रकाशन** : 'मछलियां देखती हैं सपने', 'दुःख पतंग' (दोनों कविता संग्रह).
- सम्मान** : अ.भा.अंबिका प्रसाद दिव्य प्रतिष्ठा पुरस्कार मध्य प्रदेश तथा भारतीय दलित साहित्य अकादमी (गोंडा) से सम्मानित.
- संप्रति** : अध्यापन.

मेरे हृदय के तहखाने में सुरक्षित रहे.....अब भी तुम उसी तरह मेरे सपनों में आते हो....खो जाते हो....रुलाते हो. बेटे, तुम मेरी पलकों में आंसू की तरह छिपे रहते हो. अकेले होते ही छलछला उठते हो. बच्चे मुझे बहुत प्यारे लगते हैं. हर बच्चे में मुझे तुम्हारी सूरत नज़र आती है. कोई नहीं जानता कि मैं क्यों बच्चों के बीच रहना पसंद करती हूं? तुम दूर रह कर भी मुझमें ही रचे-बसे हो. तुम्हारे पिता चाहकर भी तुम्हें मुझसे अलग नहीं कर सके. हां, तुम्हारे वियोग ने मुझे मनोरोगी बना दिया है. तुम बड़े नहीं हो पा रहे हो. उसी उम्र में हो. वैसे ही गोलू-मोलू, वही कजराारी आंखें, वही अबोधता, वही खो जाना तुम्हारा, वही छटपटाहट मेरी! वही अपराध बोध कि तुम्हें ज़रूरत है मेरी और मैं तुम्हारी

देखभाल नहीं कर पा रही हूँ, कि कोई नहीं मेरे जैसा प्यार दे सकता है तुम्हें. पर मैं क्या करूँ? बहुत अकेली....बहुत कमज़ोर हूँ. इतने छोटे हैं मेरे हाथ कि नहीं पहुंच सकते तुम तक..... बेटे, इस पुरुष प्रभुत्व वाले समाज में स्त्री बहुत कमज़ोर होती है. चाहे वह कितनी ही योग्य, कितनी ही सक्षम क्यों न हो? चाहे उसकी अलग पहचान ही क्यों न हो. मैं तुम्हारी कर्ज़दार हूँ....तुम्हारे हिस्से का प्यार न दे सकी.....प्यार का समुद्र था मेरे पास और तुम प्यासे रहे मेरे बेटे.....क्या करती मैं? चाहा तो था तुम तक पहुंचना पर कहां पहुंच पायी? वकीलों ने स्पष्ट कह दिया - पांच वर्ष बाद पिता का अधिकार होता है बच्चे पर.....मैं अभी संघर्ष कर रही थी. तुम्हारे पिता नौकरी पा चुके थे. वही देखभाल कर सकते थे तुम्हारी. मेरे पास तुम्हें वही अभाव, वही अपमान मिलता. सिर्फ प्यार तो तुम्हारी ज़रूरतें नहीं पूरी कर सकता था बेटा! फिर बिना पिता की संतान का हश्र मैं देख चुकी थी.....मैं नहीं चाहती थी कि दुनिया के ताने तुम्हें मनोरोगी बना दें. तुम्हारा स्वस्थ विकास पिता के संरक्षण में ही संभव था. वे मुझसे नफ़रत करते थे, पर तुम्हें तो प्यार करते ही थे.

मैं एक बार फिर चिंतित हुई, जब मुझे पता चला कि तुम्हारे पिता ने दूसरी शादी कर ली है. बिना तलाक़ की शादी का मज़ा वे चख सकते थे, पर सिर्फ तुम्हारा ध्यान मुझे कोई क़दम उठाने से रोकता रहा. फिर कोई भी मेरे साथ ऐसा नहीं था, जो तुम्हें वापस लाने में मेरा सहयोग करे. पिता.....भाई.....रिश्तेदार सब उदासीन थे. स्त्री की विवश अवस्था का ज्ञान पूरी शिद्दत से मुझे हो चुका था. बाहरी लोगों से मदद की उम्मीद बांधती तो वे मुझसे फ़ायदा लेना चाहते. मैं तुम्हें पाने के लिए स्त्री की अस्मिता....गरिमा....इज़ज़त कैसे खो देती बेटे. मैं चुप बैठ गयी.....मुझे विश्वास था कि तुम अपना हक़ खुद हासिल कर लोगे.....और एक न एक दिन मैं भी उस जगह पहुंच जाऊंगी, जहां शोषण के खतरे नहीं होंगे. मैं सबल.....बनूंगी.....इतनी सबल कि अपनी जैसी स्त्रियों को उबार सकूँ और मैं चल पड़ी थी एक संघर्ष-पथ पर. रात-दिन श्रम.....और आज सब कुछ है मेरे पास.....एक सुदृढ़ स्थिति .....एक ऊंचा ओहदा.....! अपना घर.....! अपनी पहचान! बस नहीं हो तो तुम ....कोई नहीं जानता मेरा अतीत.....लोग पूछते हैं कि अपनी संतान की इच्छा नहीं होती तो हंस देती हूँ....कुछ अनपढ़ स्त्रियां 'बांझ' कहकर नाक-भौंह सिकोड़ती हैं तो मेरी आंखों के सामने दौड़ता है....गोलू-मोलू सा, बड़ी-बड़ी आंखों वाला, वही पांच साल का सोनू और फिर रात भर वही....वही सपने....सीने से लगता.....लुका-छिपी खेलता. ....नटखट बच्चा जो हंसता नहीं सिर्फ़ रुलाता

है. बेटे, कब ये सपने मेरा पीछा छोड़ेंगे. कब तू मेरे सीने से लगकर मुझे मां बुलायेगा. कब बेटे! कब.....?

मैं जानती हूँ कि अब अगर तू मेरे पास आयेगा भी, तो मुझे माफ़ नहीं करेगा. इसी वर्ष मैंने विवाह कर लिया है. जितनी सहजता से तुमने अपने पिता की दूसरी शादी स्वीकार कर ली थी, क्या मेरी भी कर पायेगा? नहीं न.... इस प्रसंग में भी स्त्री ही को दोषी मानने की परंपरा है, वह भी उस स्थिति में, जब वह मां भी हो. पर बेटे, स्त्री भी इन्सान होती है. मैं भी हूँ....मैंने बारह वर्ष तुम्हारा इंतज़ार किया, और भी कर लेती, पर इस समाज में स्त्री का अकेले जीना कितना कठिन है. यह सिर्फ़ अकेली स्त्री ही जान सकती है. हर निगाह अजीब अंदाज़ में घूरती है उसे....बड़े से बड़ा कार्य भी सम्माननीय नहीं बना पाता उसे. हर रिश्ता संदेह के घेरे में होता है. वह सिर्फ़ मादा होती है और कुछ नहीं. बिना पुरुष के स्त्री को सार्वजनिक संपत्ति समझकर लोग लूटने लगते हैं और फिर ....अकेलापन ! कब तक झेल सकता है कोई? यौवन रहते तो बहुत कुछ सहा जा सकता है, पर जब यौवन सरकने लगता है, तो अकेलापन काट खाने को दौड़ता है. मैं भी घबरा गयी थी बेटे. काली अलकों से चांदनी झांकने लगी थी. बार-बार बीमार हो जाती थी, आंखों पर चश्मा चढ़ गया था. मुझे भी सहारे की ज़रूरत पड़ने लगी थी. तुम यह मत समझना कि अपने कृत्य को सही साबित करने के लिए शब्द-जाल बुन रही हूँ. यह मेरी निज की अनुभूतियां हैं बेटे.....

जानती हूँ कि तुम मेरी इन बातों को नहीं समझ सकोगे ..... तुम्हारे लिए मैं सिर्फ़ मां हूँ और मां तो बस प्रेम और त्याग की मूर्ति होती है.....इच्छा रहित.....मां की यही इमेज तुम्हारे दिमाग में भी होगी और मुझे उससे इतर पाकर तुम्हारी घृणा बढ़ जायेगी. तुम तो इस बात को भी नहीं स्वीकार कर सके हो कि तुम्हारे पिता के भय से मैं तुम्हारे पास नहीं आ सकी थी. तुम्हें तुम्हारे पिता ने यही बताया है न, कि मैंने अपनी महत्वाकांक्षा के लिए पति-पुत्र का त्याग कर दिया, पर सच सिर्फ़ मैं जानती हूँ.... तुम्हारे पिता के पास लौटना प्रतिशोध का शिकार होना था ! अपाहिज या बदसूरत होकर मैं कैसे जी पाती? वे तो मुझे बदचलन कहकर साफ़ बच निकलते. तब भी उन्हीं की विजय होती. सारा समाज उनके साथ हो लेता. तुम भी.... फिर मैं दागदार चेहरा, कुरूप, अपाहिज शरीर और कलंकित चरित्र लेकर कहां जाती बेटा! कहां? शायद तुम्हें मेरी बात ग़लत लग रही होगी, शायद तुम्हें यह लग रहा होगा कि मैं झूठ बोल रही हूँ. तो ठीक है बेटे, तुम ऐसा सोच सकते हो. सबने यही सोचा था. सबकी सहानुभूति तुम्हारे पिता के साथ थी. तब भी! अब भी! शायद स्त्री होने की

यही विडंबना है कि कोई भी उस पर भरोसा नहीं करता, उसका बेटा भी.....

बेटा, मैं कैसी अभागिन मां हूँ जिसका तुम-सा बेटा है, फिर भी वह बांझ कही जा रही है. कैसे कह दूँ दुनियां से कि मैं बांझ नहीं हूँ.....पूरी स्त्री हूँ.....मां हूँ. जिस आदमी के साथ बंधी हूँ, वह तुम्हारे बारे में सब कुछ जानता है, पर उसकी सख्त हिदायत है कि मैं किसी को यह न बताऊँ. बेटे, तुम नहीं जानते कितनी तकलीफ़ होती है, किसी से यह कहने में कि मेरी कोई संतान नहीं है. लगता है जीभ कटकर गिर जायेगी! यहां भी स्त्री की नियति सामने आ जाती है. अगर मैं पुरुष होती तो क्या अपनी संतान की बात छिपानी पड़ती मुझे. तुम्हारे पिता तो तुम्हें साथ लेकर विवाह करने गये थे, फिर क्यों नहीं उन पर अंगुलियां उठीं. सारी बंदिशें स्त्री के लिए ही क्यों हैं? मेरे वर्तमान पति ने मेरा अतीत छिपाकर मुझे इतनी सीमाओं में जकड़ दिया है कि मेरा दम घुटने लगा है.

**एक वर्ष बाद:**

कुछ दिन पहले ही मुझे तुम्हारा पता और फ़ोन नंबर मिला है, जिसे तुम चुपके से मेरी छोटी बहन को, उसके ससुराल में दे आये थे. पता चला तुम मेरे लिए चिंतित हो और मिलना चाहते हो. यह भी पता चला कि तुम्हारे पिता भी मां-बेटे को मिलाना चाहते हैं. उनकी इस इच्छा को यहां पर सभी संदेह-भरी दृष्टि से देख रहे हैं. चौदह बरस बाद यह परिवर्तन कैसे? जिस बेटे को मोहरे की तरह इस्तेमाल करने के लिए, उन्होंने उसे मां के प्यार से महरूम किया, उसी के प्रति मोह क्यों? क्यों मिलाना चाहते हैं? जरूर कोई योजना होगी! षडयंत्र रच रहे होंगे! बेटे को भी सिखा-पढ़ा दिया होगा. बेटे से ज़लील करवाने का इरादा होगा! या फिर दूसरी पत्नी से उत्पन्न तीन और बच्चों के कारण पहला बेटा बोझ लग रहा होगा.....और भी तमाम तरह की अटकलें. पर मैं खुश हूँ कि तुम्हारा पता और फ़ोन नंबर मिल गया है और अब मैं तुमसे बात कर सकती हूँ...मिल सकती हूँ...मेरे पति मना कर रहे हैं कि तुम्हें अपना पता न दूं.....कहीं बेटे के माध्यम से बाप न यहां आ पहुंचे और अपनी पुरानी आदत के अनुसार गड़े मुर्दे उखाड़कर बनी-बनाई इज्जत खाक में मिला दें. पर मुझे तुम पर भरोसा है. मैंने तुम्हें चिड़्डी लिखी है तुमने उत्तर भी दिया, फिर फ़ोन पर बातें भी कीं. मैं अभिभूत हूँ कि आवाज़ पांच वर्ष के सोनू की नहीं, नवयुवक बेटे की है. 'मम्मी आई लव यू', कहकर तो तुमने मुझे खूब रुलाया है. तुमने छुट्टियों में आने का वादा करके मेरा एक-एक दिन काटना मुश्किल कर दिया है बेटे.

**एक महीने बाद :**

वादे के अनुसार तुम आये हो. बड़े प्यार से मिले हो. पर मैं देख रही हूँ तुम अपने पिता को दिल-दिमाग़ पर लादे हुए हो. तुम बार-बार अपने पिता को सही और मुझे ग़लत साबित करने की कोशिश कर रहे हो. सिर्फ़ तुम्हारा चेहरा ही नहीं, हाव-भाव सब अपने पिता से मिलता है. पर विचारों का भी उन्हीं के जैसा होना मुझे तकलीफ़ पहुंचा रहा है. मेरे हर कार्य की तुम आलोचना कर रहे हो, मज़ाक उड़ा रहे हो और मुझे बार-बार तुम्हारे पिता और उनके द्वारा दी तकलीफ़ें याद आ रही हैं. जिन बातों को मैं बरसों बाद भूली थी, वे फिर से ताज़ा हो गयी हैं. मेरे विवाह करने को अनुचित ठहराते हुए तुम दुःख प्रकट कर रहे हो जबकि अपनी दूसरी मां की प्रशंसा किये जा रहे हो. अनगिनत बार दुहरा चुके हो कि सबके विरोध के बावजूद तुम मुझसे मिलने आये हो, प्रकारांतर से अहसान जता रहे हो और मैं तुम्हारे मासूम चेहरे को देखे जा रही हूँ. तुम्हारे मन में कितना विष भर दिया गया है बेटे! मैं यह सोचकर सब्र कर रही हूँ कि तुम अभी बच्चे हो, और पंद्रह साल जिस माहौल में रहे हो, उसके प्रभाव में हो. मैंने जब तुम्हें अपने पास रहने को कहा है, तो तुम व्यंग्य से हंस पड़े हो, मानो मैं अपने बुढ़ापे का इंतज़ाम कर रही हूँ. मैं समझ गयी बेटे, अब तुम मेरे नहीं रहे. जिन लोगों ने तुम्हें पाला, उनके हो गये हो. जन्म देने और दूध पिलाने से क्या होता है? मेरी जो इमेज तुम्हारे घर वालों ने बना दी है, अमिट है. तुम मुझे कभी नहीं समझ पाओगे..... न मन से माफ़ करोगे. तुम जीवन भर मेरे अनकिये अपराधों के लिए मुझे दंडित करते रहोगे.... कोसते रहोगे, ताने मारते रहोगे (अगर मेरे पास रहे तो), और मैं यह सह नहीं पाऊंगी बेटे, नहीं सह पाऊंगी. तुम्हारे मुंह से अपने अनकिये अपराधों की फ़ेहरिस्त सुनने की कुव्वत मुझमें नहीं है. मैंने तुम्हें हमेशा के लिए खो दिया है. जिंदगी ने कितना बड़ा मज़ाक किया है मेरे साथ..... सब कुछ होते हुए भी मेरे दामन में कुछ नहीं है. बेटा है, फिर भी बांझ कही जाती हूँ या फिर 'फिगर' बिगड़ने के डर से, संतान न चाहने वाली आज्ञाद ख्याल औरत. दूसरे पति भी खुद को 'राम' कहते हैं, जिन्होंने ऐसी अहिल्या का उद्धार किया है, जो मां भी थी. बदले में मुझे रात-दिन मेहनत कर उनकी ज़िम्मेदारी भी उठानी है. कहीं से भी भावनात्मक सुकून नहीं है मुझे, और इल्ज़ाम इतने सारे कि कई जन्म कम पड़ जायें. ऐसा क्यों है बेटे, क्यों.....क्या इसलिए कि मैं एक स्त्री हूँ?

ई. डब्ल्यू. एस-२१०, राप्ती नगर,  
चरगावां, गोरखपुर-२७३४०९,  
मो.-९४५१८१४९६७



## एक कुर्बानी यह भी!

.....हेलो....हां ..हेलो!  
 मैं जलेबी चीर हवेली से कवि मुरारीलाल शर्मा प्रशांत बोल रहा हूं....,  
 हां- हां चुरू, राजस्थान से, मुरारी.....  
 कौन सिद्दीक्री बोल रहे हो न....  
 'हां - हां डॉक्टर सिद्दीक्री बोल रहा हूं....'  
 'अरे ! यार एक खबर है, मैं यहां गौशाला समिति का सचिव हो गया हूं.'

'अच्छा तो क्या मैं कबाब खाना छोड़ दूं, अच्छा बता इतने दिनों कहां था और अचानक चुरू कैसे पहुंच गया.....?'

'बताऊंगा, तू-तो कबाब खाने में मस्त है, साले. कुर्बानी का सारा गोश्त अकेले खा जाते होंगे. खाओ-खाओ देश के जानवरों को खाते-खाते जानवर बन जाओ.....वैसे एक बात कहूं, मैं भी कहां छोड़ पाया हूं, कबाब खुर्दन...और सब कैसे हैं? यार दोस्त, मुशायरा शायर, शायरा वो निकहत परवईन, दिलफिगार आज्रम, शफीक रंजा, यार बहुत गजले कहीं हैं, क्या करूं शायरी छूटती नहीं है, तुम्हारे कबाब की तरह.....,

सिद्दीक्री साहब तीस वर्ष पुरानी यह घटना सुना रहे थे. वह मुरारी को याद कर उदास हो गये थे. वह उनका बहुत प्यारा मित्र था. बहुत स्वच्छंद और आज़ाद खयाल. वह बहुत अच्छी गजलें कहता था. बकरईद में आता और खूब कबाब, कुर्मा, रेजाला खाता. उसकी याददाश्त बड़ी तेज़ थी. बरसों-बरसों की बातें याद रखता था. लेकिन उसकी कुछ आदतों ने उसे कहीं जमकर कुछ नहीं करने दिया. कई मुहब्बतों की कई नौकरियां कीं. उर्दू अखबारों के संपादकीय लिखे. पर जमकर कहीं 'कुछ नहीं' कर पाया, या यूं कहें कि उसमें फिट हो जाने की चालाकियां नहीं थीं, उसके सिखाये- बताये हुए लोग कब के सेटलड हो गये थे.

.....फिर वह अचानक वर्षों तक लापता रहा और एक दिन उसका फोन आया....

फिर उदास होकर सिद्दीक्री साहब ने कहा - 'पता नहीं, वह ज़िंदा भी है, कि नहीं, बहुत दिनों से मुरारी की कोई खबर नहीं मिली....'

सिद्दीक्री साहब एंथ्रोपोलॉजिस्ट हैं, बहुत ही अपटुडेट, रहन-सहन अंग्रेज़ों जैसा. रोज़ शेव करते. जूता बिना पॉलिश

किये नहीं पहनते. टाई बड़े शौक से बांधते. किसी तरह वे भारतीय मुसलमान नहीं लगते. सिगार पीते हुए लगता कि वे अतातुर्ककमाल पाशा के देश के मुसलमान हैं. इस्लाम की कई चीज़ें वे नहीं मानते. लेकिन कुछ चीज़ें ऐसी थीं, जिसे वे बड़े शौक और ज़ब्बे के साथ मानते. उनका मनाना है कि प्रत्येक मुसलमान को कुरआन ज़रूर पढ़ना चाहिए और भारतीय मुसलमानों को तो उर्दू पढ़े बिना सही मज़हब का ज्ञान मिल ही नहीं सकता.

सिद्दीक्री साहब बहुत पढ़े-लिखे घराने के व्यक्ति हैं. उनके कई रिश्तेदार, जामिया मिलिया इस्लामिया, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, दिल्ली यूनिवर्सिटी, हैदराबाद विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं. उनके बेटे नहीं हैं, पर इसका दुख भी नहीं है, उन्हें, बेटियों को बड़े आधुनिक ढंग से पाला-पढ़ाया, पढ़े-लिखे घरों में शादियां कीं.

### ११ डॉ सरोज खान 'बातिश' ११

एक समय था कि सिद्दीक्री साहब के लेख अंग्रेजी की बड़ी-बड़ी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ करते थे. किसी एक मुद्दे पर खुशवंतसिंह से इनकी लंबी बहस चली थी. 'द स्टेट्समैन' में महीनों तक पत्र युद्ध होते रहे. मगर वे आज भी खुशवंत सिंह की प्रशंसा करते हैं. वे कहते हैं कि खुशवंत के क्रद का कोई लेखक आज भारत में नहीं है. वे आज तक खुशवंत सिंह से नहीं मिल सके. उनकी इच्छा है कि एक बार उनसे मिलें.

सिद्दीक्री साहब की कई पुस्तकें हैं. खासतौर पर हिंदू-मुस्लिम संबंधों को लेकर उन्होंने बहुत कार्य किया है. संप्रदायवाद और जनसंख्या की समस्या के बारे में उन्होंने नये-नये ढंग से सोचा है. मुसलमानों की आर्थिक स्थिति और रहन-सहन का आंकलन करते हुए यह सिद्ध किया है कि भारतीय मुसलमान दुनिया के अन्य देशों के मुसलमानों से बहुत भिन्न हैं.

देखते-देखते कई दशक निकल गये. कई वीरान मुहल्ले आबाद हो गये. कई इसाई कब्रिस्तान मल्टीप्लाजा, मॉल में तब्दील हो गये. सुनसान नुक्कड़, चकाचौंध से भर गया है. राजा बाज़ार से खिदिरपुर तक की मुस्लिम आबादी में बड़ा परिवर्तन आया है. अब मटियाबुर्ज वाले भी अपने को कलकतिया कहने लगे हैं. नहीं तो एक समय था कि वहां के लोग अपने को कलकत्ता से बहुत

अलग मानते थे. रास्ते सड़कों, फ्लाईओवर के तार ऐसे जुड़े हैं कि दूरियां सिमट आयी हैं. डक के चोर और मटिया बुर्ज के पॉकेटमार तथा राजा बाज़ार के छिनतईबाज़ों ने अब गलीज़ धंधा छोड़ दिया है. यह और बात है कि पुलिस उन्हें आज भी उन धंधों के लिए निमंत्रण देती हैं. लेकिन वे सब कई तरह के धंधों और रोज़गार में लग गये हैं. खोले बाड़ियां और बरसातियां जबसे गैरकानूनी इमारतों में तब्दील हुई हैं, लोग फ्लैटों में रहने लगे हैं. ज़िंदगी खुशहाल हो गयी है. जहां कल तक वीरानी थी वहां मार्केट खुल गये हैं. ....पिछड़े हुए मुसलमानों के लिए यह पंच वर्षीय योजना की भांति है, विश्वबाज़ार....

सिद्दीक्री साहब इन तमाम परिवर्तनी से खुश हैं. वे कहते हैं कि न्याय-अन्याय, नैतिक-अनैतिक, भूखों-नंगों के लिए कुछ माने नहीं रखते. जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद ही मनुष्य पर ये सारी नैतिकता लागू होती है. पहले इससे ही आदमी को उबरना चाहिए. अन्य क्रौमों का इतिहास ऐसा ही रहा है.....

कई वर्ष हुए सिद्दीक्री साहब सरकारी सेवा से निवृत्त हो गये हैं. आज भी वे बड़े खुले मन से टैक्स देते हैं. ईमानदारी से जीते हैं और शान से भारतीय महसूस करते हैं. वे मानते हैं कि देश में प्रचलित कानून व्यवस्था का सभी को सम्मान करना चाहिए. हक-नाहक की लड़ाई बाद में.

किसी समय खाने के शौक्रीन, सिद्दीक्री साहब का अब प्रिय भोजन उबली हुई दाल, दो हल्की चपातियां, बीन, चुकंदर गाजर की सब्जियां और दही रह गया है.

तीनों बेटियों को ब्याह दिया है, उन्होंने कई वर्ष हुए पत्नी भी अल्ला को प्यारी हो गयी है. छोटी-बेटी और उसकी दो बेटियों के साथ मुंशी सदरूद्दीन लेन में रहते हैं. आज-कल नवासियों से बड़ा प्रेम है उन्हें वे जो कह दें, वही सच है. कभी अपने मन से जीवन गुज़ारने वाले सिद्दीक्री साहब आज नवासियों के वात्सल्य में जी रहे हैं. चेहरे पर झुर्रियां आ गयी हैं, मगर मन मस्तिष्क अभी तक चंगा और प्रखर है. एक समय था कि वे बड़े शौक से कुर्बानी करते थे. उनके सारे मित्र उस अवसर पर आते और ताज़े-ताज़े गोश्त के कई किस्म के पकवान खाकर वाह-वाह! कर उठते. पत्नी भी खाने-पकाने की बड़ी शौक्रीन थी. कई दिन तक घर में मांस की गंध रहती. घर जैसे शेर की मांद हो. मांसाहार का वह आदिम रूप सिद्दीक्री साहब के यहां कई दिनों तक देखने को मिलता. वे स्वयं ईंटों को जोड़ कर सीक कबाब और रोस्ट कबाब बनाते. मांस कूटते, बेसन मिलाकर टिकिया बनाते...

वे कहते कि मुसलमानों का सही उत्सव तो यही है. तब नवासियां बहुत छोटी थीं. मां और बेटी उनका सहयोग किसी



सैराज खान वातिश

५ दिसंबर १९५९; गांव-महेंद, जिला-गाजीपुर (उ.प्र.);  
स्नातकोत्तर (हिंदी और इस्लामी इतिहास),

पी.एच.डी., कलकत्ता विश्वविद्यालय.

**प्रकाशन** : कहानी, लघुकथा, कविता, गीत, गज़ल, लेख, साक्षात्कार, रिपोर्टाज आदि सौ से अधिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित. मुख्य विधा - कहानी लेखन. कुछ रचनाएं उर्दू, बांगला और अंग्रेजी में भी अनुदित एवं प्रकाशित. एक कहानी संग्रह 'जिहाद' प्रकाशित.

**विशेष** : दैनिक जनसत्ता (कलकत्ता) में करीब तीन वर्षों तक प्रूफ-रीडिंग और स्वतंत्र लेखन. कलकत्ता-दूरदर्शन की उर्दू-न्यूज़ में छह वर्षों तक हिंदी अनुवादक. कुछ पत्र-पत्रिकाओं में संपादन सहयोग.

**पुरस्कार** : भारतीय भाषा परिषद के 'युवा कथा लेखन' के तहत आयोजित कहानी प्रतियोगिता में द्वितीय पुरस्कार से (स्व.) प्रभाकर माचवे द्वारा सम्मानित. विवेकशील व मानवतावादी लेखन के लिए 'जन-संसार' के 'राहुल पुरस्कार १९९६' से राज्यपाल (प.बं.) द्वारा पुरस्कृत विक्रमशिला हिंदी विद्यापीठ (भागलपुर-बिहार) की ओर से 'जिहाद' कहानी संग्रह के लिए विद्यावाचस्पति (पी.एच.डी.) की उपाधि से (२००४) से सम्मानित.

प्रकार करतीं. पर वे भी कभी-कभी इस अति मांसाहार से घबरा जातीं. नवासियां जब बड़ी हुई तो उनके लिखने-पढ़ने की ज़िम्मेदारी सिद्दीक्री साहब ने अपने ऊपर ले ली. उनकी परवरिश वे बहुत अच्छी तरह करना चाह रहे थे. बहुत सारी रूढ़ियां और संस्कारों से अलग यद्यपि दामाद विदेश में रहते हुए अलग रहने के इच्छुक थे, पर सिद्दीक्री साहब को अच्छा नहीं लगता और वे इनका खयाल रखते हुए अलग रहने की ज़िद न करते....

अब उम्र के इस पड़ाव में उनमें बहुत बदलाव आ गया था. पर वे घर पर बैठकर सीनियर सिटीजनशिप का मज़ा लेने वालों में

नहीं थे. उन्होंने एक एन.जी.ओ. खोल रखा था. वहीं वे अपना समय बिताते. अपने समय को तरह-तरह के प्रयोगों से साधते. सीखने-सिखाने का दौर जारी रखते. लिखते-पढ़ते, नये शोधार्थियों का मार्गदर्शन करते.

मुसलमान और उर्दू मुहल्ले के एक अंग्रेजी लेखक की जितनी ऊंचाई होनी चाहिए उससे कहीं अधिक उन्होंने पायी थी. तेलनी पाड़ा की मुसलमान अंग्रेजी पत्रकार एम.जे. अकबर की बात वह दूसरी मानते हैं...पर अब उनकी सक्रियता कम होने लगी थी. लोग भी उन्हें कम तरजीह देने लगे थे. जैसे बुझते हुए शम्मे की रौशनी को कुछ लोग अंधकार में ही शामिल कर लेते हैं. वे नवासियों को देश-दुनिया, दर्शन, साहित्य, इतिहास बताते. उनकी जिज्ञासा को दूर करने की कोशिश करते. पर उन्होंने महसूस किया था कि उनकी नवासियां बहुत नाजुक सोच और खयाल से बड़ी कोमल हैं.

...एक बार उन्होंने अब्राहम लिंकन की कहानी सुनाई थी. नवासियां तब स्कूल जाने लगी थीं. उन्होंने बताया था कि लिंकन अमरीका के बहुत ही निर्धन परिवार से थे. वे अपनी मेहनत और कोशिश से अमरीका के राष्ट्रपति बने. ठीक अपने प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री की तरह. लिंकन बच्चों को बहुत प्यार करते थे. उनकी छोटी-छोटी बातों पर भी वे ध्यान देते और उसे अंजाम देने की कोशिश करते.

राष्ट्रपति बनने के बाद एक बार बच्चों की एक सभा में लिंकन उपस्थित थे. बच्चे अपने प्यारे राष्ट्रपति से मिलकर बहुत खुश थे. यह वह समय था जब राष्ट्र के प्रमुखों के लिए इतने सख्त पहरे नहीं होते थे. बड़ी आसानी से कोई अपने प्रिय नेता से मिल सकता था. बच्चे लिंकन को तरह-तरह से उपहार दे रहे थे. उन्हीं बच्चों में से एक बच्ची, जो देर से लिंकन को देख रही थी, करीब आयी और उनसे हाथ मिलाते हुए बोली - 'सर आप दाढ़ी क्यों नहीं रखते, आप पर बहुत जर्जेगी...'

क्लीन शेव्ड अपटुडेट राष्ट्रपति लिंकन कुछ क्षण के लिए स्तंभित हो गये. बच्ची की बात सुनकर कुछ लोग उस पर नाराज भी हुए. पर राष्ट्रपति ने उन्हें शांत करते हुए यह घोषणा की कि वे आज से इस बच्ची के सुझाव पर दाढ़ी रखेंगे....!

और इस प्रकार आज लिंकन की जो लोक परिचित दाढ़ी वाली छवि है वह एक साधारण सी बच्ची के सुझाव का परिणाम है. शायद ही किसी ने लिंकन को क्लीन शेव्ड में किसी चित्र में देखा हो. कहने का मतलब यह है कि दुनिया के बड़े लोग छोटी-छोटी बातों पर भी बहुत ध्यान देते थे. वे आज की तरह के जन प्रतिनिधियों की तरह नहीं थे कि आप कुछ भी कहते रहिए वे

अपनी मस्ती और चोरी-चमारी में लगे हुए रहते हैं.

नाना सिद्दीक्री से राष्ट्रपति लिंकन की कहानी सुनकर नवासियों के मन में कई जिज्ञासाएं जागीं. उनके अबोध मानस में कई तरह के सवाल कौंधें बदलते मौसमों की तरह मनुष्य - अपने खान-पान और स्वाद के परिवर्तन के लिए कई तरह के त्यौहारों को भी अपने जीवन उत्सव से जोड़े चलता है. कुछेक ऐसे पर्व हैं कि उनका किसी प्रकार भी इस अत्याधुनिक युग में प्रचलित रहने का कारण समझ नहीं आता.

बकरईद की हलचलें शुरू हो गयी थीं. मुसलिम मुहल्लों में बुरा हाल था. पशुओं का इस प्रकार उत्सव के लिए बलि चढ़ाना बहुतों को तो ठीक नहीं लगता था. मगर वे भी बाध्य थे. क्योंकि हज़ारों साल के संस्कार को उखाड़ फेंकना किसी एक व्यक्ति का काम नहीं था. इसे तो अब कोई पैगंबर या खुदा भी आकर बंद नहीं करा सकता. यह पशु बलि दुनिया के कई बड़े धर्मों में प्रचलित है. ईसाइयों के यहां बलि नहीं है मगर उनके यहां पाच सभी प्रकार के मांस हलाल हैं. उनके यहां हराम बहुत कम है. वे गाय-सुअर सभी खा जाते हैं और शायद इसीलिए वे दो महत्वपूर्ण संप्रदायों पर राज करते रहे.

भारतीय मूल के दो धर्म जैन-बौद्ध शायद हिंदू धर्म बलि के अति पर ही अहिंसक हो गये थे और चींटी भी मारना पाप समझते हैं.

सिद्दीक्री साहब अपनी तमाम बौद्धिकता और दर्शनिकता के बाद भी बड़े शौक से कुर्बानी करते. अपने तमाम गोशतखोर दोस्तों, खासतौर पर गैर मुस्लिमों को इस मौके पर नेवते. इस मौके पर मुस्लिम मुहल्ले से लगे हिंदू आबादी के लोगों में तनाव रहता. पुलिस की पहरेदारी बढ़ जाती. मगर मुस्लिम मुहल्ले का एक मात्र हिंदू मोदी ऐंचा साहू पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता. वह बड़े मजे से प्याज, अदरक, लहसुन बेचता रहता...

....कहीं गायें रंभतीं तो कहीं बकरे मिमियाते, तो कहीं राजस्थान का ऊंट बिलबलाता. रेगिस्तान का जहाज़ कहे जाने वाले इस जानवर की कुर्बानी बड़े खास लोग देते हैं. खूटे से बंधा ऊंट बच्चों और राहगीरों के आकर्षण का कारण होता. बच्चों को उसकी बंकिम आकृति देखकर कौतुहल होता. उसे छूने की ज़िद करते. सिद्दीक्री साहब की नवासियां अब बड़ी हो गयी थीं. वे किताबों में ऊंट के विषय में पढ़ चुकी थीं मगर साक्षात उन्होंने कभी देखा नहीं था. इस बार उस अजीब शकल व सूरत के जानवर को देखकर वे जिज्ञासा से भर गयी थीं. उन्होंने नाना से ऊंट की ही भांति टेढ़े-बांके कई सवाल पूछे और इस आधुनिक युग में ऊंट जैसे पुराने और अपरिचित पशु की बलि पर चिंता

व्यक्त की. सिद्दीक्री साहब ने बच्चों की बातों पर विशेष ध्यान नहीं दिया.

कुछ तो लोग ऊंट को देखकर पुण्य की अनुभूति करते, क्योंकि यही वह जानवर था जो पैगंबर मुहम्मद की सवारी था, यही वो जानवर था, जिसने इस्लामी इतिहास के कितने दौर देखे थे. पैगंबरों, खलीफ़ाओं, पीर औलियाओं को ढोने वाला यह पशु सही में अपने-आपमें एक विशेष कालखंड का साक्षी है. भले ही यह राजस्थान से आया हो, लेकिन है तो उसी नस्ल का. ऊंट भारत का हो या अरब का, इतिहास की धरोहर है. इसकी सुरक्षा आदि हमारे सभ्यता की सुरक्षा है. रेगिस्तान की मुश्किल ज़िंदगी के कारवां का सूचक, ऊंट किस प्रकार ईंट-पत्थरों के शहर में आकर मूक-बुद्धू सा दिख रहा था. सिद्दीक्री साहब की नवासियां ऊंट को देखकर क़िताबों में प्रकाशित उसकी छवि देख उत्सुकता से भर उठतीं. वे आते-जाते कई बार ऊंट देख चुकी थीं.

लोग बताते हैं कि यह बड़ा सीधा और मूर्ख जानवर है, बड़ी आसानी से छुरी के नीचे आ जाता है. इसकी लंबी गर्दन पर छुरी चलाना भी आसान होता है. इसी नस्ल का दुंबा भी होता है. जो पैगंबर इब्राहिम को अपने प्रिय पुत्र इस्माइल की कुर्बानी देते समय ईश्वरीय चमत्कार से वहां बेटे की जगह सोया हुआ पाया गया और इब्राहिम ने उसके गले पर छुरी चला दी थी. आंख की पट्टी खोल कर जब इब्राहिम ने देखा, तो वे भी दंग रह गये थे और कुर्बान किये जाने वाला पुत्र इस्माइल भी.

तो इस प्रकार पुत्र की जगह पशु की कुर्बानी की रीति चल पड़ी. अतः इस्लामी पशुबलि का यह इतिहास मुहम्मद साहब के इस्लाम से भी बहुत पहले का है.

जैसे-जैसे नवासियां बड़ी होती गयीं, उनका नज़रिया बदलता गया. सिद्दीक्री साहब की नवासियां इस कुर्बानी के मौक़े पर बहुत दुखी रहतीं. घृणा से उनका मन भर आता. जैसे किसी क़साई के घर बौद्ध भिक्षुणियों ने जन्म लिया हो....उनका मासूम मन इस पशु बलि पर कराह उठता - गली, मुहल्ले, नाले, रस्ते पर बहते हुए खून को देख कर वे भयभीत हो जातीं. उन्हें लगता जैसे शहर में दंगा हो गया है. आदमी खून की होली खेल रहा है....आखिर आदमी इतना निष्ठुर कैसे हो जाता है? वे अपनी छत से नीचे आंगन में हो रही बलि को देखकर घबरा जातीं. निसहाय पशुओं के पैर बांध कर उन्हें क्रल्ल करना क्या किसी सभ्य समाज का संस्कार है? अपने नाना को देखकर उन्हें भय लगता. किस प्रकार वे जानदार पशु को बांध कर खून में रंग देते हैं. उस समय उनका दार्शनिक चेहरा, मनोवैज्ञानिक सोच, दुनिया के दर्शन से भरा मुखमंडल, राक्षस सा लगता. वह चीख मारकर कमरे में बंद हो जातीं.....



दरवाजे पर पशु बंध गया था. सिद्दीक्री साहब का मान-सम्मान इसमें ही तो था कि वे हर वर्ष एक ज़बरदस्त पशु की कुर्बानी देते थे. हां, अब यह मज़हबी उन्माद का एक सम्मानजनक सूचक ही हो गया है कि कौन कितना तगड़ा और क्रीमती पशु काटता है....?

....कोई-कोई तीनों दिन कुर्बानी देकर अपने सम्मान को ऊंचाई प्रदान करते हैं. कोई क़साई से कुर्बानी न करा कर स्वयं कुर्बानी दे, काट-छांटकर पशु मांस को अलग कर देते हैं. गाज़ीपुर वाले वो सिपाही तो हर साल कुर्बानी की अंतिम रात को सस्ते दामों पर खरीदकर, जानवर लाते हैं और अपने ही हाथों ज़िबह के बाद खाल, मांस अलग कर बांट देते हैं. जो यह गुर नहीं जानते, उन्हें क़साई का इंतज़ार करना पड़ता है.

कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि वह मुसलमान क्या, जो ज़िबह करना न जाने....? असल कुर्बानी तो वह होती है, जो अपने हाथों से की जाती है!

फिर अचानक पर्वत पर वज्रपात हो गया. चमचमाते चाकू. धार किये गढ़ासे, तेज़ की हुई छुरी भोथरी हो गयी. कबाब के सिकचों में जंग लग गये. मांस भूनती अंगीठियों की आग सदा के लिए बुझ गयी. सारे मुहल्ले में तरह-तरह की बातें फैल गयीं. हज़ार लोग हज़ार बातें. मगर सिद्दीक्री साहब पैगंबर हज़रत इब्राहिम की तरह कुर्बानी नहीं दे सके थे. बल्कि राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन की भांति अबोध बच्चियों की मासूमियत की संवेदनाओं की रक्षा और सौंदर्यबोध की हिफ़ाज़त में अपनी रूढ़िगत सोच कुर्बान कर रहे थे.

📖 ३-बी, बंगाली शाहवारसी लेन, दूसरा तल,  
फ्लैट नं.-४, खिदिर पुर, कोलकाता-७०० ०२३  
मो.-९३३९८४७१९८



## रचनात्मकता, सृजन में कोई संडे नहीं होता...!

✍ डॉ. सरोज खान 'बातिश'

बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठ खोलना चाहता है। लेखक और पाठक के बीच की दीवार खत्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, 'आमने-सामने.' अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, (स्व.) प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, (स्व.) सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुत्री सिंह, राजेश जैन, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड्से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, (स्व.) सुमन सरीन, डॉ. फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक 'अंजुम', राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, डॉ. कृष्णा अग्निहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं. किरण मिश्र, डॉ. तेज सिंह, डॉ. देवेंद्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर, डॉ. उर्मिला शिरीष, रामनाथ शिवेंद्र, अलका अग्रवाल सिंगतिया, संजीव निगम, सूरज प्रकाश, रामदेव सिंह, मंगला रामचंद्रन, प्रकाश श्रीवास्तव, सलाम बिन रज़ाक, मदन मोहन 'उपेंद्र', भोला पंडित 'प्रणयी', महावीर खाल्टा, गोवर्धन यादव, डॉ. विद्याभूषण, नूर मुहम्मद 'नूर', डॉ. तारिक असलम 'तस्नीम', सुरेंद्र रघुवंशी और राजेंद्र वर्मा से आपका आमना-सामना हो चुका है। इस अंक में प्रस्तुत है डॉ. सेराज खान 'बातिश' की आत्मरचना।

न जाने प्रकृति की उत्पत्ति किस दुख के उपजने से हुई होगी। ईश्वर (यदि है तो) को कौन सा दुख उसे हुआ होगा। मिथक बताते हैं कि गॉड ने दुनिया को बनाकर 'संडे' को आराम किया था। उर्दू के एक महान शायर ने तो यह कुफ्र कह डाला - 'ये क्रायनात अभी ना तमाम है शायद, कि आ रही हैं, दमादम सदा-ए-कुन, फैकून.'

खुदा के 'कुन' (हो जा) कहने मात्र से दुनिया खड़ी हो गयी। जैसे अमिताभ की चुटकियों में दर्द भगाने की दवा, और 'फैकून' (मिट जा) कहने से मिनटों में दुनिया नष्ट हो जायेगी। ये 'कुन', 'फैकून', गॉड, ईश्वर, खुदा, ब्रह्म, प्रकृति के तमाम भ्रम से परे है, रचनात्मकता, सृजन...., सृजन में कोई 'संडे' नहीं होता। मेरी समझ से दुख का स्थायी भाव ही सृजन का मूल स्रोत है। अपने आस-पास के परिवेश से असहमति, उपेक्षा, आहत सत्य ही तो रचनात्मकता के कारण हैं। मन का कोई कोना कहीं दरकता है तो सृजन का संचार होता है।

अपने विषय में लिखना उस समय मुश्किल जान पड़ता है। जब सब कुछ खुलकर बिना लाग लपेट के कहना हो। बिना कपड़ा पहनाये सच्चाई को बाज़ार में खड़ा करना साहस का कार्य तो है ही। लेकिन यह कोई मजबूरी भी नहीं होती। यह सब कुछ रचनाकार पर निर्भर करता है कि वह अपने व्यक्तिगत जीवन और आत्मकथ्य में कितनी पारदर्शिता बरतता है।

आज अपने मुश्किल दिनों को याद कर डर लगता है। पर उन्हीं गुर्बत के दिनों में कुछ बेहतर सोचने और लिखने की प्रेरणा मिली और निरंतर लिखने की ज़रूरत महसूस हुई। यूं तो शुरुआत छंद, गज़लों से हुई। खूब मुशायरे पढ़े - मुजप्फर हनफी, बशीर बद्र, मुनव्वर राना, वसीम बैलवी, शहूद आलम आफाकी, हबीब हाशमी, सालिक लखनवी, एजाज अफज़ल, खुमार बारहबंकवी जैसे चोटी के शायरों के साथ मुशायरे पढ़े। फैज, मज़रूह, कैफी, शह रियार आदि अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त शायरों को देखा, उनके साथ बैठने और उन्हें सुनने का सौभाग्य मिला।

हां, इस आवारगी में बहुत कुछ खोया, मगर पाया भी बहुत कुछ। अगर 'उमराव जान अदा' के शब्दों में कहूं तो -

*किसको सुनाऊं हाल दिले ज़ार ऐ 'अदा',*

*आवारगी में मैंने ज़माने की सैर की.*

जी हां, ज़माने को परखा, करीब से देखा। समझा और कम उम्र में बुजुर्गी पायी। लेकिन इस आवारगी से पिता खफ़ा रहे। घर-समाज उखड़ा-उखड़ा रहा, कैरियर बिगड़ता रहा, मैं पिछड़ता रहा। एक धुन, एक नशा था कि 'ईट लिटरेचर, स्लीप लिटरेचर, थिंक लिटरेचर'. स्वर्गीय शहूद आलम आफाकी का यह शेर आज भी मुझे बड़ा सच और ज़िंदगी के करीब लगता है। 'बस ये हुआ कि वक़्त की गाड़ी निकल गयी हम दोस्तों से हाथ मिलाने में रह गये.' करीबी तमाम दोस्तों ने कैरियर बनाने की तैयारी में



अपने समय को लगा दिया. मैं साहित्य का चंदन-घिस-घिस कर माथे पर लगाता रहा और इसका आज मलाल नहीं है कि कलम की इस स्थायी नौकरी में अपनी मेधा को लगा दिया.

बचपन में ही मां से बिछड़ जाने का गम, बाप की दूसरी शादी. घर से निकल गया- 'अपनी ज़िद पर घर की इज़्जत की खातिर, मैं बस्ती-बस्ती भटका हूँ रघुवंशी वनवास लिये.' मैं समझता हूँ कि पिता की सख्त मिजाजी, बेरुखी, बदमिजाजी, बेगानापन, बेमुरव्वती और गैर रोमानी तबियत एवं साहित्यिक अरुचि ने मेरे कोमल किशोर मन को हर पल आहत किया. ये सारे दुख, शेर, नज़्म, गीत बनकर मुशायरों तक आते रहे. उस्ताद हजरत रज़ीनातकी, एहसास गोंडवी, हामी गोरखपुरी और मित्र अकबर हुसैन अकबर के शैरी मशवरे और इस्लाह से मेरी लंगड़ी-शायरी, परवान चढ़ती रही. लंगड़ी इसलिए कि मुझे उर्दू खत, लिपि नहीं आती थी, नागरी में ही लिखता था और प्रायः मुशायरों में देखकर ही पढ़ता था. उस समय 'ताबिश गाज़ी पुरी' के नाम से लिखता था. यह ताबिश गाज़ीपुरी ही सेराज खान 'बातिश' हुआ. स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय की पढ़ाई चलती रही, रुकती रही. ऐसे वक़्त भी आये कि खाने की तंगी तक हो गयी. एक मुशायरे के पच्चीस रुपये और दैनिक सन्मार्ग (कलकत्ता) से अचानक पंद्रह रुपये के आये मनीआर्डर ने उस दुर्दिन में बड़ी राहत दी. इससे कलम और अदब के प्रति आस्था और मजबूत हुई. उर्दू के बड़े शायर और ग़ज़ल रोडवेज़ के मालिक मनव्वर राना ने अपने कार्यालय में नौकरी देकर बड़ी सहायता की. उस पांच सौ रुपये की मासिक आय से वैवाहिक जीवन का शुरुआती दौर किसी तरह खिसकने लगा. एक सहारा और था हिंदी ट्यूशन का. जो रह-रहकर धोखा दे जाता और फांके की नौबत आ जाती. फिर शेर सूझते, तरह-तरह के विद्रोही खयाल आते- 'जो है मेरे पास 'बातिश' मुझसे है, ये अताएँ जिल्ले सुबहानी नहीं है,' ..... एक जलालुद्दीन अंसारी साहब थे, जिन्होंने घर से निकलने के बाद 'जमात-इस्लामी' की एक छोटी सी लाइब्रेरी में रहने की व्यवस्था कर दी. तब 'जमात' इस प्रकार बदनाम, प्रतिबंधित और आतंकी नहीं था. लाइब्रेरी में कोरआन आन पढ़ा जाता, जहां मुझे मौजूद रहना होता. इस बहाने मुझे कुरआन और इस्लाम को बहुत निकट से समझने का मौका मिला. धर्म के आडंबरों से सहमति - असहमति, विद्रोह का दौर भी यही था. जलाल साहब मेरी सहायता कर यह समझते रहे कि वे इस्लाम की खिदमत कर रहे हैं. कोलू पाड़ा के जमात इस्लामी लाइब्रेरी का वह दौर मेरी ज़िदगी का महत्वपूर्ण दौर था, जहां मैंने पहली कहानी 'एक और बागी' लिखकर भारतीय भाषा परिषद (कलकत्ता) की 'युवा कथा गोष्ठी' के तहत दूसरा पुरस्कार प्राप्त किया. प्रभाकर माचवे तब परिषद के

निदेशक थे. उन्होंने पीठ थपथपाते हुए कहा था - भाषा अच्छी है, वर्तनी सुधार करो.

उस मुशायरे बाज़ी और ग़ज़लगोई के बाद यह बराबर एहसास होता रहा कि मैं बहुत दबबू, शर्मिला और झेंपू किस्म का आदमी हूँ, मुझमें बेखटक, बेझिझक, बेपरवाह निर्लज्ज स्वभाव नहीं है. मुशायरों में दबा-दबा, डरा-डरा अपने अच्छे शेर पढ़कर भी कभी खूब कामियाब नहीं रहा. शुरुआत के दिनों में अपने हिंदी स्वभाव के कारण मुशायरों से भगाया भी गया. उन दिनों फारसी में स्नातकोत्तर अध्यापक ज़हीर अहमद परवेज़ ने मेरी मदद की. इस झेंपू स्वभाव के कारण रेडियो पर ग़ज़ल पढ़ते समय गला सूख-सूख जाया करता था. यह वह समय था जब रेडियो के कार्यक्रम ही मनोरंजन के साधन हुआ करते थे और रेडियो के माध्यम से कुछ हद तक साहित्य सुना जाता था. तब रेडियो पर आना, कविता, कहानी पढ़ना बड़ी बात हुआ करती थी. मुझे याद है 'युवावाणी' में पच्चीस रुपये के चेक मिला करते थे, जिसे मैं महीनों कैश नहीं कराता था. एक बंगाली प्रोग्राम एकज़ीक्यूटिव थे. मैं ग़ज़लें रिकॉर्डिंग करवा रहा था. ग़ज़ल का मुखड़ा था कि 'हम खुदी बेचकर कहां होते, आप अपने में बदगुमां होते.' महोदय भड़क गये- 'ये क्या? खुदी क्या होता है, शब्द खुदी है, अरे भाई खुदी-चुन्नी, नहीं समझे - अन्न के छोटे छोटे टुकड़-दाने, हां अब पढ़िए - 'हम खुदी बेचकर कहां होते.'

...मैं घबरा गया, मेरा सारा रिद्म बिगड़ गया, घबराहट में कितनी बार माइक्रोफोन से सिर टकराया. अधिकारी महोदय डांटते फटकारते रहे. बड़ी मुश्किल से दस मिनट का कार्यक्रम आधे घंटे में रिकॉर्ड हुआ. फिर भी यह रोमांच रहा कि कल सवा सात बजे रात में कलकत्ते का हिंदी समाज मुझे सुनेगा. मन में छिपे डर, भय, संकोच ने मंच पर कभी भी खुल कर बोलने और कविता पाठ नहीं करने दिया. वर्तनीय दोष का कारण भी यही सब है शायद. मुझे लगता है कि यही कमी मेरे अंतस में गद्य के विकास का कारण बनी. इसी दौरान धर्म, बाबरी मस्जिद, भाषा, समाज इस्लामी शिक्षा, उर्दू के महान शायरों - गालिब, फैज़, फिराक, मजरूह, मजाज, अकबर इलाहाबादी, हफीज़ जालंधरी (पाकिस्तान के क्रौमी शायर) आदि पर उस समय की बड़ी पत्र-पत्रिकाओं - धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, कादंबिनी, दैनिक हिंदुस्तान, सरिता, नई दुनिया आदि में लेख प्रकाशित हुए. जिससे मुझे उस दुर्दिन में आर्थिकबल और लेखकीय आत्मविश्वास मिला.

तमाम पढ़ाइयों के बावजूद अंततः मैं कहीं स्थायी रूप से नौकरी में नहीं लग सका. छिट-पुट पत्रकारिता की. कलकत्ता दूरदर्शन के उर्दू न्यूज़ में दस वर्षों तक रहा. फिर एक बंगाली अधिकारी की आंखों में खटका और हटा दिया गया. तब तक

कवयित्री और डेढ़ दर्जन प्रसिद्ध बांगला साहित्यिक पुस्तकों की अनुवादक सुश्री सुशील गुप्त सह निदेशक पद से अवकाश ग्रहण कर चुकी थीं, जिन्होंने मुझे कांट्रैक्ट पर नियुक्त किया था. उस हिंदी-उर्दू, द्वेषी अधिकारी का कहना था कि मेरी लिखी हुई ट्रांस्क्रिप्टेड कॉपी उन्हें पढ़ने में असुविधा होती है. अतः खूब सहज-सहज कर मैं बच्चों की तरह लिखूँ, जो किसी भी लाइव टेलिकास्ट न्यूज के लिए संभव नहीं है. बस एक दिन मैंने भी कह दिया कि सर यदि हिंदी पढ़ने में आपको असुविधा हो रही है, तो यह मेरा दोष नहीं है, यह ग़लती उस प्रबंधन की है जो ऐसे अतिरिक्त अधिकारियों को उर्दू न्यूज में अतिरिक्त भार के लिए भेजते हैं, जिन्हें उर्दू-हिंदी नहीं आती....!

फिर क्या था! उस सरकारी मीडिया की अल्पकालिक सेवा से मेरी छुट्टी हो गयी. फिर कुछ दिन जनसत्ता में रहा. इसके अतिरिक्त कई तरह की पत्र-पत्रिकाओं में प्रूफ रीडिंग से लेकर संपादन तक का कार्य किया. यह हिंदी पत्रकारिता की दुनिया भी कम ग़लाज़त भरी नहीं है. प्रूफ-रीडरों की हालत तो हिंदी अख़बारों में, ग़ैर सरकारी मेहतरो की तरह है.

अपनी बेकारी को सलाम करते हुए जब-जब यह एहसास हुआ कि 'मुफ़लिसी (बेकारी) सौ बहार खोती है, मर्द का एतबार खोती है', तो काम की तलाश की. और काम वही किया जिससे रचनात्मकता बची रहे. जब एक दैनिक के सह संपादन से हटने के लिए मजबूर किया गया तो मित्र संपादक, कवि शैलेंद्र ने कहा था कि, 'बातिश जी अब इस प्रकार की कोई टुटपुंजिया नौकरी मत कीजिएगा. इस प्रकार बौद्धिकता आहत होती है. आपकी पहचान बन रही है, जमकर लिखिए, पढ़िए....'

इस सफ़र में जो थोड़ी बहुत पहचान बनी है, उपलब्धि मिली है, उसका सारा श्रेय मैं अपनी पत्नी डॉ. अफ़ज़लुन निसा को देता हूँ, जिन्होंने मुझे लिखते रहने के लिए सांसारिक समस्याओं से दूर रखा और आय व आवश्यक ज़रूरतों की पूर्ति हेतु स्वयं जुट गयीं. मेरे कलम की स्याही की हर बूंद मेरी गुणवंत, कर्मनिष्ठ, इमानदार पत्नी के नाम है, जो साहित्यिक रुचि न रखते हुए, वैचारिक मतभेदों के बावजूद मेरे जैसे अनीश पति की सेवा में अपनी व्यस्त दिनचर्या के बाद भी समर्पित रहती है.

पता नहीं अगले, पिछले जन्म का क्या रहस्य है? मुझे तो यह लगता है कि आपकी इमानदारी, समर्पण, निष्ठा और नेक-नियति है, जो आपके जीवन में फलती है. घर-संसार की मजबूत, दीवारें इसी बुनियाद पर खड़ी होती हैं.

मेरी पहली अच्छी और चर्चित कहानी 'जिहाद' कमलेश्वर जी के संपादन में 'गंगा' के पांचवें-छठे अंक में महत्व दे कर छपी थी. बाबरी मस्जिद पर यह कहानी काफी चर्चा में रही. तब मुझे

खुद भी पता नहीं था कि मैंने कितनी मजबूत कहानी लिखी है. ग़ज़ल की दो पंक्तियों की बंदिश से आज़ाद होकर बड़े फलक पर मेरा अंतर्मुखी, झेंपू मन सोचने लगा था. फिर कई एक कहानियां छोटी-बड़ी पत्रिकाओं में आयीं. उसी दौरान पत्नी ने जमशेदपुर के दंगे पर एक घटना सुनाई....मस्जिद के प्रांगण में पनाह लेनेवाली एक दंगा पीड़ित(मुस्लिम) लड़की से मस्जिद के बूढ़े इمام ने बदसलूकी करनी चाही. लड़की ने किसी तरह से अपने को बचाया था. पर किसी से वह इस घटना को बताना नहीं चाहती क्योंकि इससे इस्लाम धर्म की बदनामी होती. लेकिन वही इمام जब मरता है तो लड़की कुरआन का वह मंत्र 'फिन्नार-ए-जहनुमा खाले दीनहः', पढ़ती है, जो किसी काफ़िर की मौत पर पढ़ा जाता है.

यह 'फिन्नार-ए-जहनुमा' 'वसुधा' में छपी थी. उस समय तक मुझे कहानी के किसी आंदोलन या 'वाद' से कोई खास दिलचस्पी नहीं थी. या यूँ कहिए कि मुझे इसके विषय में कुछ विशेष जानकारी भी नहीं थी.

वैसे भी मैं किसी विशेष कहानी आंदोलन या मत का अनुयायी नहीं हूँ. मैं प्रतिवाद के हर स्वर को अपने लेखन का माध्यम बनाना चाहता हूँ. प्रगतिशीलता का हर बिंदु मुझे छूता है. मैं महसूस करता हूँ कि अभी तक जितना लिखना चाहिए था, नहीं लिख सका. प्रकृति ने जिसके लिए मुझे चुना है, उसके प्रति मैं लापरवाह अधिक रहा हूँ. सच्चे लेखक को दुःखःव्रति होना चाहिए. कितने कथाभ्रूणों की हत्या समय रहते न लिखने से हो जाती है, जो एक सृजनात्मक अपराध ही है. हर आदमी के इर्द-गिर्द हज़ारों हज़ार कहानियां बिखरी पड़ी हैं, जो बिना कागज़ पर उतरे दम तोड़ रही हैं. सुख-सुविधा और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया ने सोचने-समझने और सृजित करने की ताकत को कमजोर किया है.

मुझे लगता है कि आजकल महत्वपूर्ण लेखक होने के लिए ज़रूरी हो गया है कि आपके पास कम से कम एक कंप्यूटर हो. या फिर आप आर्थिक रूप से इतना मजबूत हों कि कम से कम एक कहानी पर सौ रुपये खर्च कर सकें. बहुत सी पत्रिकाएं साफ़ तौर पर लिख देती हैं कि रचनाएं संगणिक होनी चाहिए. ऐसे में राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में हाथ से लिखकर रफ़ फेयर करनेवाले लेखक तो छपने से रहे.

कहा जा रहा है कि वर्तमान समय कहानियों का समय है और सच भी है. छंद और लय से ऊब कर बहुत से रचनाकार कहानियों की ओर भाग रहे हैं. पर उनकी सोच में क्या है? यह देखना ज़रूरी है. आज कहानियों के कई रूप रंग हैं. कम कहानियां शास्त्रीय व्याकरण में लिखी जा रही हैं. उदाहरण के लिए 'कथाबिंब' कहानी विशेषांक देखे जा सकते हैं - विशेषांक-१ (२०००) में

हरीश पाठक की कहानी, 'भेज रहे हैं, नेह निमंत्रण', नहीं, यह शीर्षक पूरा नहीं है, पूरा शीर्षक यह है 'भेज रहे हैं, नेह निमंत्रण प्रियवर तुम्हें बुलाने को, हे मानस के राजहंस तुम भूल न जाना आने को.'

यह कहानी क्या है? एक खूबसूरत फीचर है. कविता और काव्य गुणों से पूर्ण... आज कहानियों में तरह-तरह के प्रयोग हो रहे हैं. एक पूरे पत्र में कहानी समाप्त हो रही है. टेलीफोन पर कहानी पूरी हो रही है. डायरी, छंद में कहानियां लिखी जा रही हैं. अठारह-अठारह पृष्ठों की लंबी कहानियों के विरोध में कुछ बड़े घरानों की पत्रिकाओं ने ऊंचे पारिश्रमिक देकर अपने चमचमाते रंगीन मात्र एक पृष्ठ पर कहानी छापने का आंदोलन छेड़ दिया है. कहानियों का यह प्रयोग, यह होड़, पता नहीं कहानी को कहां ले जायगी. पर इतना जरूर है कि कहानी खूब लिखी और पढ़ी जा रही है. यह भी कहानी का उत्कर्ष ही है कि आधुनिक कहानी 'शाहरुख खान' और 'मल्लिका शेरावत' की तरह भारतीय लोक मानस में प्रचलित होती जा रही है.

कहानी की खेमेबाजी से मैं सदा दूर रहा हूं. शायद मुझे यह गुण प्राप्त भी नहीं है और ना ही मुझे कोई घास डालता है. मेरा निरीह दुखी मन, जब-जब आहत होता है, तब-तब एक कहानी जन्म लेती है. लेकिन किसी कहानी का मन-मानस में जन्म लेने भर से वह अपने रूप-आकार तक नहीं पहुंचती. उसे एक कालखंड में ढालना पड़ता है, उसकी वर्तनी, लिपि, संरचना तय करनी पड़ती है. उसे एकाग्रचित होकर सोचना पड़ता है. यह प्रक्रिया मेरे लिए कभी कभी मुश्किल जान पड़ती है. ऐसी कई कहानियां असमय ही काल कलवित हो जाती हैं, जो हमारी लेखकीय अकर्मण्यता और काहिली के कारण नहीं लिखी जाती हैं. फिर मेरा सोचना यह भी कि सृजन की प्रक्रिया संतान उत्पत्ति के समान है, हजारों-हजार क्रोमोजोम्स अंडों से लड़-धड़कर कोई एक (या कभी कभी दो या तीन भी) मजबूत जीन्स भ्रूण का रूप धारण करता है.... ठीक उसी प्रकार मजबूत थीम-पृष्ठभूमि की रचना मजबूर करती है लेखक को बैठने के लिए, लिखने के लिए.

मेरे लेखन का मकसद किसी खास-महत्वपूर्ण आंदोलन को ज़िंदा रखना या बल देना नहीं. आस-पास की बुराइयों-विसंगतियों को उजागर करना है. उन विद्रूपताओं को उजागर करना है जिससे समाज जूझ रहा है. अगर मेरी कहानी का एक भी पाठक मुझे पत्र लिखता है तो मैं उसे अपना पुरस्कार मानता हूं और अपने लिखने की वजह पाता हूं.

मेरे कथा लेखन में मुख्य रूप से सहयोग देने वालों में जनसत्ता (कलकत्ता संस्करण) के अरविंद चतुर्वेदी, जो जनसत्ता का सामाहिक परिशिष्ट 'सबरंग' का संपादन कर रहे थे, ने दिया.

उनके सहयोग से मुझे बड़ा बल मिला, लिखने का उत्साह बढ़ा. इसमें कोई दो राय नहीं कि दोस्ती के सहयोग, ईर्ष्या, द्वंद, मुहब्बत, उलाहना, उपहास ऐसे के बीच निरंतर लिखना ही मेरे अभी तक टिके रहने का कारण है. मैं अपने मित्रों - नूर मुहम्मद नूर, कुशेश्वर, सुरेंद्र दीप, सुरेश शा, प्रफुल्ल कोलख्यान, जितेंद्र धीर, विजय शर्मा, प्रो. हितेंद्र पटेल, गीतेश शर्मा, प्रो. गीता दुबे, नाटयकर्मी जितेंद्र सिंह, शैलेंद्र, प्रो. विमलेश्वर, नसीम अजीजी, संपादक मु. इसराईल अंसारी, संपादक ओमप्रकाश अशक, जितेंद्र जीतांशु (सदीनामा), राज्य बर्धन, आलोचक श्रीनिवास शर्मा, सिद्धेश, निर्भय मल्लिक, अभिजात, विमल वर्मा, परशुराम, आलोचक शंभुनाथ, प्रो. आशुतोष, हरeram चौबे, जाहिद अमर और बिछड़े हुए मित्र मनोज (अध्यापक) दुबे, मुन्ना सिंह आदि का आभारी हूं, जिन्होंने मुझे समय-समय पर उत्साह, कुंठा, प्रेम, ईर्ष्या, उपहास, प्रशंसा, निंदा से अलंकृत, तोड़ा आहत किया, रुलाया-हंसाया, चिढ़ाया, कंधे पर उठाया. एक प्रकार से इन्हीं लोगों ने निरंतर लिखते रहने के लिए ऊर्जा प्रदान की.

मैं खासतौर से विनोद त्रिपाठी का एहसानमंद हूं जिन्होंने मेरा पहला कहानी संग्रह 'जिहाद' प्रकाशित कर मेरा मनोबल बढ़ाया. कई विरोधों के बावजूद पत्रकार गीतेश शर्मा ने जनसंसार की ओर से मुझे 'राहुल पुरस्कार' से सम्मानित किया. बर्धवान विश्व-विद्यालय के डॉ. मु. कमाल की आलोचकीय दृष्टि से जिहाद का गुजरना भी एक उत्साह भरा क्षण है.

मुझे जितना अपनी एक बेटी और दो बेटों के पिता होने पर गर्व है उससे कहीं अधिक गर्व पच्चीस साल से लगातार धूम्रपान के बाद सिगरेट छोड़ देनेवाली अपनी इच्छाशक्ति पर है. लेकिन मेरे कुछ धूम्रपानी एवं सोमरसी पियक्कड़ मित्रों के लिए यह अशुभ और अशोभनीय जान पड़ता है. वे कहते हैं- "बीड़ी, खैनी, सिगरेट, देसी चुल्लू, भांग, शराब साहित्य के आवश्यक तत्त्व हैं. इन्हीं के जोर पर निकलती हैं, उत्तम रचनाएं. साहित्य के महान शब्दकर्मियों ने बेटे-बेटी, पत्नी से अधिक इन संजीवनियों से प्यार किया है. और 'यह' तो अपने लेखन के ऐन जवानी के दौर में सिगरेट छोड़ दिया, इससे क्या उम्मीद की जाय."

क्या सच में मेरी तरह हिंदी लेखन में कोई निरीह-पिछड़ा, मूर्ख, बकलोल, लेखक नहीं है.....?

अंत में अपने जीवन का सबसे दुखद शेर उद्धृत करना चाहता हूं-

"ये इज्जत, ये शोहरत उसकी, सब बेकार-सी लगती हैं.

जब तक बूढ़े बाप की आंखों में बातिश आवारा है."

✍ ३-बी, बंगाली शाहवारसी लेन, फ्लैट नं. ४,

खिदिपुर, कोलकाता- ७०००२३. फोन : २४५९९८७५



## ‘मानवीय समस्याओं की पड़ताल हैं मेरी कहानियां!’

-*निर्भय मल्लिक*

(साहित्यकार निर्भय मल्लिक से कवि व सुरेंद्र दीप द्वारा ‘कथाबिंब’ के लिए विशेष बातचीत)

### • आपके लेखन का आरंभ किस प्रकार हुआ?

मेरे लेखन का आरंभ स्कूल में पढ़ने के समय से ही हो गया था। नागार्जुन और दिनकर की गोष्ठियों में नियमित रूप से जाता था। उस उम्र में ही एक बात मुझे अच्छी तरह से समझ में आ गयी थी कि नागार्जुन, दिनकर की अपेक्षा सामान्यजन के अधिक नज़दीक हैं। साहित्यकारों और विद्यार्थियों की खूब भीड़ होती थी। स्वाभाविक रूप से कविता के प्रति मेरा खूब आकर्षण हुआ और मैंने भी कविता लिखना शुरू कर दिया जो आज भी जारी है। कवि और कविता से मेरा आज भी गहरा लगाव है। वियतनाम संबंधी मेरी पांच कविताएं डॉ. नामवर सिंह ने अपनी पत्रिका में छापी थीं। अब तक मेरे दो कविता संकलन निकले हैं - ‘अपने ही खिलाफ’ और ‘सहस्राब्दी का सुख-दुःख’।

### • आप श्मशानी पीढ़ी से भी जुड़े रहे हैं, ऐसा आप दावा करते हैं जबकि दूसरों का कहना है कि आपकी प्रतिबद्धता इस काव्य-आंदोलन से कभी थी ही नहीं?

दो फरवरी १९६८ को मैंने ‘विभक्ति’ पत्रिका के माध्यम से श्मशानी पीढ़ी की शुरुआत की थी। विभक्ति पत्रिका के सात अंक निकालकर मैंने इसे बंद कर दिया।

### • आपके लेखन पर बंगला साहित्य का प्रभाव स्पष्ट दिखता है, इस पर आप क्या कहना चाहेंगे?

श्यामसुंदर कॉलेज में पढ़ाने के कारण बंगला साहित्य और कविता से मेरा गहरा लगाव हो गया। दिल्ली के सन्मार्ग प्रकाशन के कहने पर मैंने कवि सुभाष मुखोपाध्याय की पचास श्रेष्ठ कविताओं का हिंदी में अनुवाद किया जिसका प्रकाशन पुस्तकों के रूप में उन लोगों ने किया। इसी समय ‘कुरान में नारी का अवस्थान’ के शीर्षक से बंगला में मैंने एक छोटी सी पुस्तक निकाली। इस पुस्तक की बंगाली मुस्लिम समाज में खूब चर्चा हुई। सारी छपी हुई पुस्तकें बिक गयीं। इसके अलावा बंगाल के एक सौ प्रसिद्ध कवियों की कविताओं का मैंने अनुवाद किया जो दिल्ली के ‘सार्थक प्रकाशन’ के पास अभी भी पड़ा हुआ है। ‘सन्मार्ग प्रकाशन’ के कहने पर और भी कुछ पुस्तकों का मैंने अनुवाद किया। समरेश बसु की सात लंबी कहानियों का अनुवाद ‘सप्तर्ग’ के नाम से छपा

भी। उन लोगों के कहने पर मैंने महाश्वेता देवी के उपन्यास ‘क्षुधा’ का भी अनुवाद किया। डॉ. शिवनारायण राय के अत्यंत क्लिष्ट प्रबंधों का भी अनुवाद करके मैंने ‘सन्मार्ग प्रकाशन’ को दिया। अनुवाद के साथ ही कहानी, उपन्यास, और नाटक का लेखन भी चल रहा था।

### • आपकी कौन-कौन सी रचनाएं अभी तक प्रकाशित हुई हैं?

मेरे दस उपन्यास ‘कुल्हाड़ी’, ‘कटघरा’, ‘राधारानी’, ‘मोहब्बत नगर’, ‘कापुरुष’, ‘घात-प्रतिघात’, ‘प्रतिवाद’, ‘कालजयी’, ‘वैरागी का गणतंत्र’ और ‘विजया’। दो कहानी संग्रह- ‘कहूं न पाया सुख’ और ‘भैरवपुर की पाठशाला और अन्य कहानियां’। दो काव्य संग्रह- ‘अपने ही खिलाफ’ और ‘सहस्राब्दी के सुख दुःख’। एक नाटक संग्रह- ‘गणतंत्र के पांच कृष्णपक्ष’ - प्रकाशित हो चुके हैं। कई संकलन अभी प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं।

### • आपके लेखन में कौन से सामाजिक, आर्थिक, मानवीय कारक मुख्य भूमिका अदा करते हैं?

समकालीन यथार्थ की बदलती तस्वीर मेरी कहानियों में देखी जा सकती है। मनोवेगों से अधिक मानवीय समस्याओं की पड़ताल है मेरी कहानियों में। असंतोष, छटपटाहट और बेचैनी की मुद्रा सर्वत्र देखी जा सकती है। मेरी प्रत्येक कहानी किसी न किसी पाखंड को उजागर करती है। भारतीय समाज का ताना-बाना कुछ इस प्रकार बुना गया है कि उसमें किसान-मजदूर की श्रमशील सभ्यता संस्कृति के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। वर्तमान अर्थतंत्र ‘योग्यतम’ को ही जीने का अधिकार देता है। बाकी लोग उनकी सुख-सुविधा बटोरनेवाले चाकर, गुलाम हैं। मेरी कहानियां उस आततायी सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पहलुओं का मार्मिक साक्ष्य पाठकों के सामने उपस्थित करती हैं। सुंदर, शोषणरहित समाज ही मेरी कल्पना का समाज है। देखिए दीपजी, अनुकूल सामाजिक परिस्थितियों के न रहने पर ही मनुष्य का जीवन बदरंग होता है, उसमें असंतोष, निराशा, कुंठा और निराशा जनमती है। मेरी दृष्टि उन छोटी-छोटी घटनाओं की ओर भी जाती है जिनके

कारण आदमी का जीवन कुछ से कुछ बन जाता है।

• **आपकी रचना के पात्र समाज के किस वर्ग से आते हैं?**

मेरे पात्र आमतौर पर समाज के उस वर्ग से आते हैं जिसे हम निम्न और निम्नमध्यम वर्ग कहते हैं। यही वर्ग त्रासदी का सबसे बड़ा शिकार है। यह भारत का बहुलतावादी वर्ग है जो व्यवस्थावादी चक्की में पिस रहा है। कुछ लोग हैं जो जोंक बनकर उसका रक्त चूस रहे हैं।

• **क्या ये बातें आपकी कहानियों में प्रखर रूप से सामने आयी हैं?**

जैसा मैंने पहले कहा, मेरी कहानियां वर्गीय विषमताओं से भरे समाज के उन तनावग्रस्त संदर्भों को अनावृत करने से नहीं कतरातीं जो मनुष्य की त्रासदी के केंद्र में हैं। मैं उन सामाजिक परिस्थितियों को तोड़ने और बदलने की कोशिश में हूँ जो मनुष्य के सर्वोन्मुखी विकास में बाधक हैं। सामाजिक जीवन के द्वंद्वों, शोषण और उत्पीड़न की चक्की में पिस रहे साधारण मनुष्य के संघर्षों को मेरी कहानियों के माध्यम से बखूबी समझा जा सकता है।

• **क्या आप अपनी रचना प्रक्रिया पर प्रकाश डालना चाहेंगे?**

हर लेखक की रचनाप्रक्रिया भिन्न-भिन्न होती है। किसी लेखक की रचनाप्रक्रिया कैसी होती है- यह उसके लेखन के ऊपर निर्भर करता है। अनुभूति जितनी गहरी होगी, अभिव्यक्ति भी उतनी ही आकर्षक और प्रभावशाली होगी। प्रतिभाशाली लेखक की अभिव्यक्ति बहुत गहरी होती है। रचना भी काफ़ी तीव्र गति से आगे बढ़ती है। प्रसिद्ध लेखिका महाश्वेतादेवी ने 'हज़ार चौरासी की मां' कहानी एक ही रात में लिखकर समाप्त की थी। गहरी अभिव्यक्ति और ऊंची शिल्पकला के कारण ही गुलेरीजी की कहानी 'उसने कहा था' इतनी प्रसिद्ध हुई। वर्तमान समय में कवियों और कथाकारों की बाढ़ सी आ गयी है। सब लोग अपने को प्रेमचंद और रेणु की परंपरा से जोड़कर देखते हैं। यह बहुत अच्छी बात है। किसी रचना को कालजयी होने के लिए देश-काल की अभिव्यक्ति तो उसमें होनी ही चाहिए। 'हज़ार चौरासी की मां' और 'उसने कहा था' जैसी रचनाएं कालजयी हैं। संभवतः मेरी रचनाओं में कहीं कुछ ऐसा नहीं है जिसे कालजयी कहा जाय। देश-काल का प्रभाव तो पड़ता ही है, वह मेरी रचनाओं में जगह-जगह देखा जा सकता है। 'वैरागी का गणतंत्र' में वर्तमान राजनीतिक परिवेश को मैंने उजागर करने की कोशिश की है। आज के गणतंत्र को 'वैरागी' स्वीकार नहीं करता। वह एक नये गणतंत्र के लिए- नयी स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहा है। वह वर्तमान स्वाधीनता को नहीं मानता। वह एक नयी स्वाधीनता के लिए लड़ाई लड़ रहा है। भारतवर्ष के हज़ारों-लाखों जागरूक युवक आज एक नयी स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रहे हैं। मैंने इस नयी चेतना को, नये संघर्ष को अपनी रचनाओं



(शमशानी पीढ़ी के चर्चित वरिष्ठ लेखक निर्भय मल्लिक लेखन से अधिक लेखन के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के लिए जाने जाते हैं। मल्लिक जी इस उम्र में भी किसी नवयुवक से अधिक सक्रिय हैं। इनका सोना, जगना, उठना सब साहित्य के लिए होता है। निर्भय जी बहुत ही सहज, सरल और विनम्र व्यक्तित्व के धनी हैं।)

**जन्म** : १९३४ ई.

**ग्राम** : सुपौल, पोस्ट-शिवराम, जिला- दरभंगा (बिहार)

**शिक्षा** : एम.ए. (संस्कृत), एम.ए. (हिंदी)

**मातृभाषा** : बंगला और मैथली

**प्रकाशन** : दस उपन्यास, दो कहानी संग्रह, दो कविता संग्रह, एक नाटक संग्रह, प्रचुर मात्रा में बंगला से हिंदी में अनुवाद.

**संपादन** : 'विभक्ति' और 'संप्रदान' (हिंदी), 'आगम' (बंगला)

**अध्यापन** : १९६० से श्यामसुंदर कॉलेज, वर्धमान प.बं. में प्राध्यापक

**संप्रति** : सेवानिवृत्त, स्वतंत्र लेखन

**संपर्क** : २०/१५, डी.जी.बाई लेन, पश्चिम, एल पुकुर, बटतल्ला, पो- कोन्नगर, जिला- हुगली (प.बं.)- ७१२२३५, दूरभाष- ०३३-२६४४९५९०

में जगह-जगह दर्शाने की कोशिश की है। 'नंदीग्राम' और 'सिंगूर' की लड़ाई के प्रभाव से अपनी रचना को आज हम अलग नहीं रख सकते। इसका प्रभाव किसी न किसी प्रकार हमारी रचनाओं में देखा जा सकता है। यह एक स्थान विशेष की लड़ाई नहीं है। यह शासकवर्ग के शोषण के खिलाफ़ एक प्रतीकी लड़ाई है जो धीरे-धीरे पूरे भारतवर्ष में व्याप्त हो रही है। प्रसिद्ध माओवादी नेता बर्बर राव ने अभी हाल ही में नंदीग्राम की एक महती सभा में इस बात की घोषणा की है कि यह लड़ाई तब तक जारी रहेगी जब तक कि उन्हें स्वाधीनता नहीं मिलती। छात्र, मजदूर, किसान यह लड़ाई लड़ते रहेंगे। जाने-अनजाने हम सभी लोग इस लड़ाई में शामिल हैं। कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास हर विधा में इस संघर्ष का प्रभाव देखा जा सकता है। इस पीढ़ी के प्रायः सभी बुद्धिजीवी इस संघर्ष में शामिल हैं। आज का कोई भी लेखक इससे अपने को



अलग नहीं रख सकता. सिंगूर और नंदीग्राम शासक के विरुद्ध शोषितों की लड़ाई के अंतर्राष्ट्रीय प्रतीक बन गये हैं.

#### • आपके समय में साहित्यिक माहौल कैसा था?

एक बात आरंभ में बता दूं तो अच्छा रहेगा. हमारे समय में कलकत्ते का साहित्यिक माहौल बहुत गर्म था. हमेशा कुछ न कुछ साहित्य के नाम पर होता रहता था. कभी-कभी तो वातावरण चरमसीमा पर पहुंच जाया करता था, मारपीट की नौबत आ जाती थी. किंतु ऐसा होता नहीं था. दो-एक रोज के बाद सब फिर दोस्त हो जाते थे. इस तरह की घटनाएं इतनी हैं कि सब अगर विस्तार से लिखूं तो एक पोथा बन जाय. एक घटना याद आ रही है - 'ज्ञानोदय' की तरफ से हिंदी कहानीकारों का एक सम्मेलन बुलाया गया. इस सम्मेलन में कलकत्ते के किसी कहानीकार को यह कहकर नहीं बुलाया गया कि कलकत्ते में हिंदी का कोई कहानीकार नहीं है. उस समय के प्रसिद्ध कहानीकार छेदीलाल के नेतृत्व में इसका जोरों से प्रतिवाद किया गया. इस प्रतिवाद का फल यह हुआ कि कहानी सम्मेलन कर्ताओं को यह अच्छी तरह से समझ में आ गया कि कलकत्ते महानगर के साहित्यकारों की उपेक्षा कर कोई साहित्यिक सम्मेलन यहां नहीं किया जा सकता.

एक बार मनोहर श्याम जोशी एक बड़ी पत्रिका के प्रचार के लिए आये हुए थे. लक्ष्मीचंद्र जैन के यहां गोष्ठी थी. एक तरफ लक्ष्मीचंद्र जैन, प्रो. विष्णुकांत शास्त्री, मनोहर श्याम जोशी सब बैठे हुए थे, दूसरी तरफ हम लोग थे. मनोहर श्याम जोशी ने 'ज्ञानोदय', 'धर्मयुग', 'सारिका' जैसी बड़ी पत्रिकाओं के समर्थन में मुक्त कंठ से प्रशंसा की. उनका कहना था कि इन पत्रिकाओं में छपे बिना कोई बड़ा साहित्यकार नहीं हो सकता. मैंने उनकी बातों का खंडन करते हुए खूब जोरों से प्रतिवाद किया. मैंने कहा कि आप बड़ी पत्रिकाओं की दलाली करना छोड़िए. 'धर्मयुग' का महत्व किसी सिनेमा पत्रिका से अधिक नहीं है. 'धर्मयुग' को लोग उसमें छपे सिनेमा का फोटो देखने के लिए खरीदते हैं, साहित्य के लिए नहीं. मेरी बातें सुन उनके माथे पर पसीना आ गया. उन्होंने सोचा भी नहीं होगा कि कलकत्ते में इतने कड़े विरोध का सामना करना पड़ेगा.

#### • आपके समय में लघुपत्रिकाओं की क्या दशा थी?

शोर-शराबा की माध्यम थीं पत्रिकाएं. किंतु कुछ पत्रिकाएं ऐसी थीं जिन्हें शोरशराबा से कोई लेना-देना नहीं था. श्रीनिवास शर्मा 'मणिमय' निकालते थे, कपिल आर्य भी उस पत्रिका से जुड़े थे. बाद में डॉ. कृष्ण बिहारी मिश्र ने भी इसका संपादन किया. सिद्धेश अलग से पत्रिका निकालते थे. गोपाल प्रसाद और आलोचक अलख नारायण की पत्रिका अलग से निकलती थी. 'गल्प भारती' राय साहब निकालते थे. शलभ श्रीराम सिंह

'युयुत्सा' पत्रिका निकालते थे. अनय की एक कहानी की पत्रिका थी. श्याम श्रेष्ठ कविता की पत्रिका निकालते थे. छेदीलालजी साल में एक बार संकलन के रूप में एक पत्रिका निकालते थे. 'रूपांबरा' भी साल में एक-दो बार निकलती थी.

#### • आपके समय में लेखन को लेकर क्या कोई प्रतिद्वंद्विता भी थी?

कलकत्ते में कहानी को लेकर भयंकर प्रतिद्वंद्विता थी. शरद देवड़ा की 'अणिमा' पत्रिका में उसी को छापा जाता था जो सातवें दशक के कहानीकार थे. छेदीलालजी को वे लोग सातवें दशक का कहानीकार नहीं मानते थे इसलिए उनकी कहानी 'अणिमा' में कभी नहीं छपी. कहानीकार अवधनारायण सिंह चाहते थे कि वह कलकत्ते के एक मात्र कहानीकार बने रहें. कुछ लोग उनके पीछे-पीछे घर से लेकर खलासी टोला तक घूमते थे और उनकी कहानियों की प्रशंसा करते थे. परंतु यह स्थिति उस समय बदल गयी जब मैंने २ फरवरी १९६८ को अपनी पत्रिका 'विभक्ति' निकाली. शाम को जब साहित्यकारों को काफ़ी हाउस में मैंने अपनी पत्रिका दी तो सभी लोग चौंके. कुछ ने इसे फाड़कर फेंक दिया. कुछ लोगों ने उसे संभालकर रखा. उन दिनों कलकत्ते में 'विश्वमित्र' और 'लोकमान्य तिलक' दो अखबार निकलते थे. प्रत्येक रविवार को विश्वमित्र में 'विभक्ति' (श्मशानी पीढ़ी) के बारे में लेख छपने लगा. उधर दिल्ली में खुद अज्ञेय और रमेश बक्षी 'दिनमान' में विस्तार से लेख छापने लगे. जयपुर से डॉ. विश्वंभर उपाध्याय ने श्मशानी पीढ़ी की खूब चर्चा की और इसके बारे में लेख लिखे. हिंदी कविता में 'श्मशानी पीढ़ी' को सभी बुद्धिजीवियों ने एक नये सार्थक आंदोलन के रूप में स्वीकार किया. इस तरह कलकत्ते से लेकर दिल्ली तक 'विभक्ति' और 'श्मशानी पीढ़ी' की खूब चर्चा हुई. चायखाने से लेकर काफ़ी-हाउस और खलासी टोला तक केवल 'विभक्ति' और 'श्मशानी पीढ़ी' की चर्चा होती थी. 'कहानी' की जगह 'काव्य' केंद्र में आ गया. इससे सकलदीप सिंह प्रमुख कवि के रूप में उभरकर सामने आ गये. भाई लोगों ने दबाव डालने के ख्याल से लालबाजार में जाकर शिकायत की कि 'विभक्ति' एक असामाजिक पत्रिका है. किंतु खुद विष्णुकांत शास्त्रीजी ने उनका यह कहकर विरोध किया कि यह एक विशुद्ध साहित्यिक पत्रिका है. इसका असामाजिकता से कोई लेना-देना नहीं है.

#### • क्या इस काव्य आंदोलन पर बंगला साहित्य का प्रभाव था?

उस समय सब जगह कविता का बोलबाला था. पास ही बंगला भाषा में कविता में नाना प्रकार के प्रयोग हो रहे थे. 'भूखी पीढ़ी' चरम सीमा पर थी. इस पीढ़ी के कवि नयी शैली में कविता

लिख रहे थे और चौराहे पर खड़े होकर कविता सुनाते थे. हिंदी के मृत्युंजय उपाध्याय ने दैनिक कविता निकालना शुरू किया. कविता के सिवा किसी दूसरी विधा के बारे में बात ही नहीं करना चाहते थे. 'भूखी पीढ़ी' के कवि अपनी भाषा के बड़े-बड़े कवियों का जन्मदिन भी अपने तरीके से मनाते थे. एक बार इस तरह के समारोह में मैं भी शामिल हुआ. भूखी पीढ़ी के सब कवि खलासी टोला में बैठकर जीवनानंद दास का जन्मदिन मना रहे थे. बिना पानी या सोडा मिलाये वे ठर्रा पी रहे थे और जीवनानंद की कविता पढ़ रहे थे. ढक्कन खोलकर, मेरे मुंह में ठर्रा की एक बोतल लगा दी. सब लोग खुले मन से कविता की चर्चा कर रहे थे. पुराने कवियों का नाम सुनते ही वे चिढ़ जाया करते थे. एक बार शक्ति चट्टोपाध्याय को रवींद्रनाथ के जन्मदिन पर बोलने के लिए कहा गया. वे उठकर खड़े हुए और साफ़ शब्दों में कहा - मैं रवि ठाकुर के बारे में कुछ नहीं जानता, और बिना कुछ बोले बैठ गये. उस समय केवल नये कवियों पर बोलना लोग पसंद करते थे. ऐसे ही कुछ लोगों ने एक-एक घंटे पर कविता पत्रिका निकालना शुरू किया था. सुनकर आश्चर्य होगा कि यह कैसे संभव होता था. उस युग के कवियों के लिए सब कुछ संभव था. केवल कविता और कविता. कविता के अलावा कोई दूसरी बात ही नहीं करना चाहते थे. हिंदी पर उसका प्रभाव पड़ा.

• **आपके समय में भुवनदास का चायखाना काफ़ी चर्चा में था?**

भुवनदास के चायखाने पर हम लोगों का अड़ड़ा जमता था. बाबा नागार्जुन, डॉ चंद्रदेव सिंह, प्रो. विष्णुकांत शास्त्री के आने से चायखाने की सभा और अधिक आकर्षक हो जाती थी. सबको बैठने की जगह नहीं मिलती थी. बहुत से लोग बाहर खड़े रहते थे. यह चायखाना छेदीलाल का चायखाना के नाम से प्रसिद्ध था. छेदीलालजी अक्सर यहां बैठे मिल जाते थे. लोग चाय पीते और साहित्य के बारे में, खासकर कहानियों के बारे में बतियाते, बहस करते थे. चायखाने में चुपचाप बैठनेवालों में जयनारायणजी भी होते थे.

• **आपका बचपन बहुत ग़रीबी में बीता जबकि बुढ़ापा अब संपन्नता में. इसका आपके लेखन पर क्या प्रभाव पड़ा?**

ग़रीबी की छाया हमेशा मेरे मन पर प्रभावी रहती है. जहां मैं जैसा था वैसा मैं अब भी हूं.

• **आपको जो व्यक्ति कलकत्ता लाया और आपकी पढ़ाई करवायी, उसे आप भूल गये?**

नहीं, नहीं. मैं उन्हें कभी नहीं भूला. डॉ. हृदयनारायण सिंह के बड़े चाचा परमानंद सिंह मुझे कलकत्ता लाये थे. मैं उन्हें कभी नहीं भूला. मैंने उनके बच्चों को बाद में पढ़ाया भी.

• **आपकी मूल विधा क्या है?**

पहले मेरी मूल विधा कविता थी, अब कहानी और उपन्यास है.

• **आपने अपने उपन्यासों के कथ्य पर प्रकाश नहीं डाला ? इस संबंध में कुछ बताइए.**

इनके मुख्य कथ्य सामाजिक और राजनीतिक रहे हैं. अंतिम उपन्यास में आज की राजनीति ही है. आज का गणतंत्र कैसा हो, इस पर ही विचार करता रहा हूं. 'घात-प्रतिघात' में काफ़ी-हाउस में होनेवाली उठापटक की राजनीति है जो नक्सल आंदोलन से संबंधित है. काफ़ी-हाउस का बैरा भी एक नक्सल था जो बाद में नौकरी छोड़कर नक्सल आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने लगा था.

• **आपकी कहानियों पर यह आरोप है कि वे बंगला कहानियों की प्रतिलिपि हैं - खासकर 'भैरवपुर की पाठशाला?'**

मेरी कहानियां बंगला कहानियों की प्रतिलिपि कतई नहीं हैं. हां, बंगला कहानियों का प्रभाव जरूर है मेरी कहानियों पर. विषय की समानता जरूर है.

• **आपके समय में अक्सर लेखक 'पत्नी घर में, प्रियसी मन में' से आगे जाकर दो-दो पत्नियां रखते थे. क्या आपके समय में अक्सर लेखक होने के लिए दो-दो पत्नियां रखना जरूरी था?**

मेरे समय के लेखकों में चारित्रिक दोष था और सेक्स का फ्रस्ट्रेशन भी. कहानीकार कपिल आर्य का घर सोनागाछी में ही था. कपिल कमलेश्वर को सीधे सोनागाछी ही ले जाते थे. इसी कारण उनकी कहानी 'सारिका' में छपी. कमलेश्वर की कहानी 'मांस का दरिया' वेश्याओं की कारुणिक स्थिति पर केंद्रित है. प्रेमचंद और जयशंकर प्रसाद तक की प्रेमिकाएं थीं. ये प्रेम नहीं, सेक्स का तुष्टिकरण है. डॉ. धर्मवीर भारती अपनी चचेरी बहन को ही लेकर भाग गये थे. मैं इन बातों से कोसों दूर रहा.

• **सुनने में आता है कि आप पक्के पियेकड़ थे. आपकी मित्र-मंडली भी खलासी टोला में देर रात तक जमी रहती थी?**

⇒ मैं बहुत पीता था. वहां पर हम सभी बैठते थे. पीकर सभी मस्त हो जाते थे. बंगला के लेखकों में 'शक्ति चट्टोपाध्याय', 'समरेश बसु', 'बुद्धदेव दास गुप्ता' और हिंदी के 'अवधनारायण सिंह', 'मार्कंडेय सिंह', 'सकल दीप सिंह', 'अलख नारायण', 'गोपाल प्रसाद' आदि इसमें सम्मिलित होते थे. एक बजे रात तक पीते थे. वहां से उठकर एक चाइनीज परिवार के यहां भी जाकर पीते थे. वहां पर नहीं मिलने पर गवर्नर-हाउस के फाटक के उत्तर में एक नेपाली का घर था वहां जाकर पीते थे. उस समय हवा ही ऐसी चली थी. बंधे-बंधाये नियम टूट रहे थे. पीने के समय ⇨



## किशोर दास गांधी : बापू की राह पर

‘चले श्मशान की देहरी, वही है साथ की संज्ञा’ यह तमन्ना तो जनकवि हरीश भादानी की है, लेकिन नगर में कविता को जीने वाला एक ऐसा शख्स भी है जो हर उस मुसाफिर की आवभगत करता है और जिसकी पहली और आखिरी तमन्ना यह है कि यह स्थान सुविधा संपन्न ‘बैकुंठधाम’ बने-बना रहे।

यह व्यक्ति कोई और नहीं दर्द की कविता को जीने वाला, देश विभाजन की पीड़ा को भोगता तथा जवान पुत्र के मृत्युदंश से पीड़ित किंतु सेवाभाव से सराबोर मुस्कराता किशोरदास गांधी है जो मरघट की मिट्टी से पिछले दो दशकों से निर्द्वंद्व भाव से खेल रहा है।

घर-परिवार की जिम्मेदारियों का निर्वहन करते हुए, लोक कल्याण के इस कार्य से उन्हें सकून मिलता है। बीकानेर लालगढ़ कल्याण भूमि इसी हरीशचंद्र के अथक प्रयासों का सुफल है। कृषि मंडी द्वारा प्रदत्त चार सौ गुना ढाई सौ (अर्थात् एक लाख वर्ग फीट) क्षेत्र में ३१ जुलाई १९९१ में इस भूमि का खाका खींचा गया था, जहां अब तक दो-ढाई हजार शव यात्राएं आकर रुक चुकी हैं और प्रत्येक का इस गांधी ने आदर किया और साथ आने वालों के आंसुओं में अपने दिवंगत पुत्र के आकस्मिक चले जाने के गम को भुलाया है।

इस कल्याण भूमि में कोई भेदभाव नहीं है। यहां अमीर, गरीब, अफसर, चपरासी, अशक्त, असहाय्य, बीमार सभी एक ही जैसी धरती पर लेटते हैं। नगर की तमाम लावारिश लाशों का सम्मान भाव से दाह संस्कार गांधी अपनी देखरेख में कराते हैं। दानी-मानी सज्जनों, संस्थाओं तथा नगर परिषद और नगर विकास न्यास जैसी अन्य शासकीय संस्थाओं ने इस कल्याणी भूमि को सुव्यवस्थित करने में श्री गांधी को भरपूर सहयोग दिया है।

किशोरदास गांधी कल्याण भूमि में आने वाले प्रत्येक जन से झोली फैलाकर याचक की तरह मांगते हैं। प्रतिदिन दानदाताओं, शुभचिंतकों एवं समाज सेवियों के यहां जाकर कल्याण भूमि के लिए सहयोग एकत्रित करते नहीं थकते। वे केवल दाह संस्कार

⇒ ऐसे-ऐसे मैटर मिले जिस पर कई-कई कहानियां लिखी गयीं और चर्चित भी हुईं। मेरी कहानी ‘भारत’ वहीं से उठी थी। ‘कहं न पाया सुख’ वहीं की कहानी है। मेरी कहानियों में वहां का जीवंत अनुभव है।

• आपका बहुत समय लिया। आगे के लिए क्या योजनाएं हैं?

नहीं करते अपितु अज्ञात मृतकों के अस्थि फूल बाद में एकत्रित कर हरिद्वार भेजकर गंगा में प्रवाहित करने की व्यवस्था भी स्वयं करते हैं।

गांधी के साथ पांच-छह कर्मचारी स्थायी रूप से कल्याण भूमि में उन्हें सारे काम में सहयोग करते हैं। उनके निरंतर प्रयास से श्मशान भूमि का परिसर छायादार वृक्षों एवं बिखरी हरियाली से एक खूबसूरत बगीचा बन गया है। जहां शोकाकुल लोगों को सकून मिलता है।

बतौर डिवीजनल एकाउंटेंट वे १९८८ में सेवानिवृत्त हो गये हैं, लेकिन सेवाकाल के दौरान से ही वे इस पुनीत कार्य में जुड़े हैं और उनका कारवां निरंतर जारी है।

सारे कार्य को व्यवस्थित करने के लिए गांधी ने अपने सरीखे १०-१२ व्यक्तियों के साथ इस भूमि को कल्याण भूमि न्यास के रूप में रजिस्टर्ड करवा लिया है। जिसका हर काम व्यवस्थित, अनुशासित एवं समर्पण भाव से होता है। वे कहते हैं कि मैं रो-रो कर थक गया हूं, फिर भी तमन्ना यह है कि जीवित रहते यहां आने वाले हर व्यक्ति के आंसू पोंछता हूं।

उनके गमों को दूरकर स्वयं सन्नाटे में जागता रहूं कि कोई... बात पूरी नहीं हुई थी कि उनके एक सहयोगी ने सूचना दी कि एक शव यात्रा आयी है, और गांधी चले गये एक और पुण्य कार्य करने। ऐसा दिन में कितनी ही बार होता है और वे योगी की तरह लगे हैं साधना में।

मूल्यहीनता एवं सब कुछ प्राप्त कर लेने की इस आपाधापी के दौर में कहीं न कहीं आज भी ‘हरीशचंद्र गांधी’ दिख ही जाते हैं। अब भी मनुष्यता बची है इस मरघट में जहां पाई-पाई का हिसाब रखना इस कार्य की महत्ता और साख बढ़ाने में मददगार साबित हुआ है। मनुष्य के आखिरी पड़ाव की पहरेदारी बदस्तूर जारी है।

(‘दैनिक भास्कर’ के सौजन्य से)

बहुत कुछ लिखना है। कुछ पुस्तकें प्रकाशन के लिए तैयार करनी हैं। देखिए कितना हो पाता है!

**सुरेंद्र दीप**

📞 ८९/२९३, बांगुड़ पार्क,  
रिसड़ा(प.बं.)- ७१२२४८



बाइस्कोप

## तगड़ी शिवशंकर पिल्लै 'चमीन' के मशहूर लेखक

- सविता बजाज

(साहित्य और फ़िल्म का चोली दामन का साथ है. हमारे विशेष अनुरोध पर इस अंक से, जानी मानी फ़िल्म, टी.वी., मंच कलाकारा व पत्रकार सुश्री सविता बजाज 'कथाबिंब' के लिए चलचित्र जगत से संबद्ध साहित्यकारों के साथ बिताये क्षणों को संस्मरण के रूप में प्रस्तुत कर रही हैं. अगले अंकों में पढ़िए- अमृता प्रीतम, राजेंद्र सिंह बेदी, इस्मत चुगताई.....आदि के बारे में.)

बात थोड़ी पुरानी है, मैंने एन.एफ.डी.सी. की एक आर्ट फ़िल्म की थी 'बिरुथा', जिसमें मेरे साथ हीरोइन दीप्ति नवल थी. शूटिंग स्थल चुना गया मोनकपूर, टकीकारा जिला जो ऐलीपी से करीब पांच छः घंटे का लंबा सफर था वह भी मोटर बोट के जरिए. चारों तरफ पानी और पानी के किनारे हरियाली और हरियाली के बीचों बीच सुंदर-सुंदर घर. चालीस दिन का प्रोग्राम था और साथी कलाकार थे सुधीर दलवी, सुलभा देशपांडे वगैरह. केरल में मुझे एक सुनहरा अवसर भी मिला जब मैंने वहां मलयालम के सुविख्यात लेखक शिवशंकर पिल्लै जी का साक्षात्कार धर्मयुग पत्रिका के लिए किया था. मैंने उन्हें संदेश भिजवाया तो जवाब मिला तगड़ी (केरल में लोग उन्हें इसी नाम से जानते थे) मुझसे जल्द ही आकर मिलेंगे.

'चमीन' फिल्म जिसे तगड़ी जी ने लिखा उसका हीरो मधु, मेरे ही स्कूल एन. एस.डी. का था. मैं रात भर सो न सकी. पता नहीं इतना महान लेखक कैसा होगा? मुझे रचनाकार हमेशा महान प्राणी लगते हैं, इस संसार से कुछ अलग तरह के प्राणी, जिनकी लेखनी में कमाल का जादू होता है, शक्ति होती है जो हम जैसे कलाकारों को जीवित रहने की शक्ति देती है क्योंकि कलाकार का मन कोमल होता है. बार-बार टूट कर जुड़ता है. एक दिन लोकेशन पर शोर हुआ - तगड़ी आये, तगड़ी आये, एक बड़ी सी मोटर बोट लोकेशन के किनारे आकर रुकी. एक लंबा सा सांवले रंग का दुबला पतला व्यक्ति नाव से उतरा जो दूसरे लोगों से अलग सा लगता था. शरीर पर मात्र पतली सी कुर्ती, घुटनों तक मुड़ी धोती, कान के पास टुंसी बीड़ी, अधकच्चे सफेद बाल और टूटे-फूटे दांत. लेकिन चेहरे पर सुबह की ताज़गी और निराला तेज़. माथे पर चंदन का टीका. मैं भागी, उनके चरण स्पर्श किये और अपना परिचय दिया. तगड़ी मुस्करा रहे थे. उन्हें मुझसे मिलना अच्छा लगा था. मैं हैरान और परेशान थी. यह सोचकर कि क्या महान लेखक इतने सीधे और सरल होते हैं.

हम दोनों वहीं एकरेती के टीले पर जा बैठे जहां से प्राकृतिक

नजारा दुर्लभ था. बातचीत में रंग भरे जा रहे थे. मैं उन्हें सर कह रही थी और वे मुझे बिटिया कह धन्य से हो रहे थे. मैं उनके स्नेह से भीग सी रही थी. तगड़ी जी अपने अतीत की यादों में खोये कहीं मोती बिन रहे थे. मैंने उनकी तंद्रा भंग की.



'सर हमारी सफलताओं के पीछे प्रोत्साहन का भी बहुत बड़ा हाथ है. आपकी प्रेरणा कौन थी जिसने आपको लेखक बना दिया.'

तगड़ी मेरी बात सुन चौंके और उनकी गहरी नजरों मेरे चेहरे से फिसलकर कहीं दूर पेड़ों के झुरमुट में गढ़ सी गयीं. वे उदास दिखे, आंखें गीली थीं और आवाज मानों गले से न निकलकर किसी बंद कुएं के भीतर से आ रही हो. बोले - 'आपने तो बरसों बाद यह पूछकर मेरे मन का बोझ हलका कर दिया. किसी को नहीं बताया, आपको बताऊंगा बिटिया. मेरी क्लास की बात है. उसकी बड़ी नशीली आंखें थीं और घनी पलकों वाली ठीक आप जैसी ज़मीन छूते लंबे घने बाल. मैं अक्सर उस पर कविता लिखता, वह खुश हो जाती लेकिन कभी छूने नहीं दिया. कभी कोशिश करता तो वह अंगूठा दिखाती और चिढ़ाती. बचपन के दिन इसी तरह गुज़र रहे थे और हम दोनों बड़े हो रहे थे. एक बार छुट्टियों के बाद स्कूल के सब संगी-साथी आये लेकिन वह नहीं आयी. समय अपनी गति से चलता रहा और मैं उसकी यादों को सीने में दबाये लेखन के क्षेत्र में बढ़ता गया और तगड़ी शिवशंकर पिल्लै नाम कमाते-कमाते, लिखते-लिखते बुढ़ाने लगा.'

वह रो रहे थे. सोचा रोने दो शायद बरसों का जमा मैल धुल जाये.

'आपने उसे ढूंढा?'

'जमीन आसमान एक कर दिया. अब तो वह मेरी तरह दादी या नानी बन चुकी होगी. कौन जाने?'

समय थम सा गया था. मैं भी कुछ अपना पुराना गम याद

कर रो दी. कह लीजिए हम दोनों रो रहे थे. हल्की बारिश की बूँदा-बाँदी भी शुरू हो गयी थी और सौँधी माटी की खुशबू चारों तरफ फैली थी. बड़े अनमोल क्षण थे वे जो मैं तगड़ी जी के साथ बिता रही थी.

‘सर, अब भी इस उम्र में उसकी याद आती है?’

‘भूला ही कहां हूं. जब भी लिखता हूं वह बच्ची अंगूठा दिखा मेरे सामने खड़ी हो जाती है.’

‘आपकी श्रीमती जी को तो पता होगा!’

‘नहीं.’

‘क्यों?’

‘यह पीड़ा मेरा खजाना है जो मैं किसी के साथ नहीं बांट

सकता. साथ लेकर जाऊंगा.’

तगड़ी जी की बोट किनारे आकर खड़ी थी. उन्हें वापस घर ले जाने के लिए. अंधेरे में भी उनकी आंखों के भीगे कोर मोती से चमक रहे थे. दोबारा मिलने का वादा कर मैं लौट ली.

आज तगड़ी हमारे बीच नहीं हैं. लेकिन उनके साथ बिताये पल मेरी ज़िंदगी का एक अनमोल सच है और यह भी सच है कि उनसे दोबारा मिलने का वादा करके भी कभी केरल नहीं जा सकी.

✉ पोस्ट बॉक्स १९७४३, जयराजनगर,  
बोरिवली (प.), मुंबई-४०००९१.  
फो. : ९२२३२०६३५६

## लघुकथा

## सलमा

✍ आनंद बिल्थरे

ठंड, सुई बनकर, हड्डी में समाती जा रही थी. शीत लहर से, पत्ते तक कांप रहे थे. अपने आपको चादर में लपेटे सलमा ने मुख्य द्वार खोला. बिछी के पांव से चलती वह बरामदे तक पहुंची. खिड़की पर लगे शीशे से, भीतर का मध्यम उजाला, छन-छन कर, बाहर आ रहा था. उसने, टूटे शीशे के भीतर से हाथ डालकर सिटकनी नीचे गिरायी और पल्ला धकेलकर अपने आपको भीतर कर लिया.

बीच कमरे में, मसहरी के भीतर, मखमली रजाई ओढ़े, वृद्ध मौलवी खरटि भर रहे थे. उसने मसहरी हटायी और मौलवी की छाती पर चढ़ बैठी. मौलवी ने अचकचाकर आंखें खोल दीं. उसके मुंह से बोल नहीं फूट रहे थे.

- ‘तू कौन है?’ किसी तरह, थूक गिटककर उसने कहा.

- ‘सलमा!’ इसके साथ ही उसने बदन पर से चादर उतार कर फेंक दी. जगह-जगह, घाव भरे बदन को देखकर उसे पसीना निकल आया.

- ‘क्या चाहती है तू?’

- ‘बदला!’

सलमा, शेरनी की तरह, बिफरकर बोली - ‘याद कर. तूने मेरे शौहर को, गलत राह पर लगाकर, मुझे तलाक दिलवाया. तब मैंने, अनवर से निकाह करने का फैसला किया, किंतु तूने फिर टांग अड़ायी. मैं, उसी वक़्त तेरी नियत समझ गयी थी. तू मुझे हासिल करना चाहता था. जब मैं किसी भी तरह, राजी नहीं हुई, तूने इस्लाम की आड़ लेकर मुझे बदचलन करार दिया और मुझ पर पत्थर बरसाने का, नादिरशाही हुक्म जारी कर दिया. हुक्म की तामीली तक भी तुम, मेरी ‘हां’ का इंतज़ार करते रहे.’

- ‘मुझे माफ कर दे सलमा. तू मेरी बेटी के बराबर है.’

- ‘बेटी! थूरे बुद्धे, - तेरी हवश ने ही मेरा सर्वनाश किया है. अब, वही तेरा भी सर्वनाश करेगी.’

सलमा ने फुर्ती से अपने कपड़ों में से, कटार निकाली और उसे मौलवी की छाती में, मूठ तक, घोंप दिया. लड़खड़ाते कदमों से वह उठी. चादर को बदन पर लपेटा और उसी खिड़की से उतरकर, अंधकार के समुंदर में, लोप हो गयी.

✉ प्रेमनगर, बालाघाट-(म.प्र.)४८९ ००१

## पाठकों/ग्राहकों से निवेदन

कृपया ‘कथाबिंब’ की सदस्यता राशि मनी ऑर्डर से भेजते समय, मनी ऑर्डर फॉर्म पर ‘संदेश के स्थान’ पर अपना नाम, पता, पिन कोड सहित साफ-साफ लिखें. मनीऑर्डर भेजने के बाद पोस्टकार्ड पर पूरे पते सहित इसकी सूचना अवश्य दें. आपकी सदस्यता अगले अंक से लागू होगी. पते में परिवर्तन की सूचना भेजते समय कृपया नये पते के साथ पुराने पते का उल्लेख करना न भूलें.

कथाबिंब / अप्रैल - जून २००८ ॥ ३७ ॥





## ग्रामीण जीवन के सच का दर्शन

सुरेश चंद्र शर्मा

अपना गांव (कहानी संग्रह) : डॉ रामप्यारे प्रजापति

प्रकाशक : दीपिका भार्गव, प्रकाशन केंद्र, हनुमान गंज,

सुलतानपुर (उ.प्र.). मूल्य : ४०/-

‘अपना गांव’ डॉ. राम प्यारे प्रजापति का सद्यः प्रकाशित कहानी संग्रह है. डॉ. प्रजापति का सर्जक मन गांव की सहज, सरल छवि पर अत्यधिक रीझता है. इस रीझने का मूल कारण यही है कि डॉ. राम प्यारे प्रजापति की हर सांस में माटी की सोंधी गंध समाहित है. गांव की ‘निश्चलता’, ‘सहजता’ तथा ‘अपनेपन’ से पूर्णतया आप्लावित हैं, कहानी संग्रह ‘अपना गांव’ की सभी कहानियां.

समीक्ष्य कृति ‘अपना गांव’ में कुल २१ कहानियां हैं. सभी कहानियों के कथानक को रचनाकार ने गांव की गली-कूचे, खेत-खलिहान, बाग-बगीचे, नदी-पोखर तथा झोपड़ी और खपरैल वाले मकानों के मध्य जीवन जीनेवाले इंसानों के बीच से खोजा है. कहानियों के अधिकांश पात्र लेखक की दृष्टि से प्रायः गुजरते रहे हैं. डॉ. प्रजापति की इन सभी कहानियों में ग्रामीण जीवन के यथार्थ का आभासीय चित्रण दृष्टिगत होता है. ‘अपना गांव’ की सभी कहानियों का मैंने तल स्पर्शी अध्ययन किया है. इस दृष्टि से यही कहना सार्थक प्रतीत होता है कि माटी की मोहक छवि के रचनाकार डॉ. रामप्यारे प्रजापति ‘यथार्थ’ की पहचान और उसके चित्रण हेतु सदैव प्रयत्नशील दिखलाई पड़ते हैं. ‘यथार्थ’ की पहचान के लिए आवश्यक हो जाता है कि रचनाकार में एक वैचारिक दृष्टि हो, नैतिक विश्वास हो और मानवीय संवेदना की भरपूर तरलता भी.

‘अपना गांव’ की कहानियों में मुझे गांव के जटिल यथार्थ, मानवीयता, सर्वहारा वर्ग, महिला उत्पीड़न, नारी देह का सौदा, शोषण, प्रगतिशीलता की अनुगूंज आदि आयामों का हृदयस्पर्शी चित्रण दर्शित होता है. इस संग्रह की कहानियों का कथारस बड़ी ही सहजता और सरलता से प्रवाहित होता हुआ पाठकों के मन को रसमय बना देता है. ‘अनाम’ तथा ‘सवनी का प्यार’ शीर्षक कहानियों में ‘प्रेम’ के रागात्मक संबंधों का मोहक चित्रण किया गया है. ‘नीम का बिरवा’ शीर्षक कहानी मनुष्य और प्रकृति के अभिन्न संबंध को निरूपित करती हुई आज की पर्यावरणीय चिंता

के प्रति पाठकीय मन को प्रेरित करती है. ‘ज़हर खुरानी’ शीर्षक कहानी में आज की ज्वलंत समस्या ठगी, चोरी, हत्या पर करारा व्यंग्य है. यात्रियों को धोखा देकर उनका सामान लेना तथा ज़हर खुरानी के द्वारा यात्रियों को मौत के मुंह में झोंकना आज की एक भयावह समस्या है. यह कहानी आज की प्रगतिशीलता एवं काहिलता पर पूर्ण प्रहार है.

‘मचान’, ‘अपना गांव’, ‘अलगू का मडहा’, ‘चौधरी’, ‘कोयल बुआ’ जैसी कहानियों में गांव के जीवन का सच बड़ी ही साफ़गोई से पिरोया गया है. ‘मंगरू का परिवार’ में सामंती प्रथा का यथार्थ झलकता है. गरीबी और अतिशय अभाव के मध्य जीवन जीनेवाले ‘मोहिनी’ और ‘रधिया’ (राधा) ठाकुर नगीना सिंह की मदद के मध्य अपने यौवन को भी उसी के हाथ में लुटाती रहती हैं. स्त्री शोषण की यह व्यथा-कथा आज के शिष्ट समाज को झकझोर कर रख देती है. ‘ठकुराइन’ शीर्षक कहानी में तंत्र-मंत्र, ठग विद्या, अंध विश्वास का पूर्ण दस्तावेज समाहित है.

संग्रह की कहानियों में ‘कहानीपन’ का स्वाद तो नहीं मिलता किंतु पात्रों के जीवन के सच को बड़ी ही साफ़गोई से महसूस किया जा सकता है. कथ्य एवं शिल्पीय संयोजन का ताना-बाना काफ़ी ढीला है. ‘प्रस्तुति’ में निबंधात्मकता का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है. संवाद अदायगी में सादगी है. भाषा में कोई बनावट या बुनावट नहीं है. सात-आठ कहानियों में ‘यात्रा वृतांत’, ‘संस्मरण’ तथा ‘रेखाचित्र’ जैसी विधाओं का स्वाद मिलता है. ऐसी शैली से ‘कहानीपन’ नष्ट हो जाता है.

‘अपना गांव’ की कहानियों की कथावस्तु में कई पनघट ऐसे आते हैं, जहां पाठकीय मन को जीवन की पूरी सच्चाई से रूबरू होना पड़ता है. यहां ज़िंदगी के मकड़जाल में उलझे, जूझते, छटपटाते, यंत्रणा भोगते इंसानों के कारुणिक दृश्य हैं तो मूल्यों के टकराहट के स्वर भी हैं. अंधकार में ढहती ज़िंदगियां हैं तो दहलीज के पार नये सूरज की तलाश भी. यही ‘तलाश’, ‘अनाम’ और ‘सवनी का प्यार’ शीर्षक कहानियों के पात्रों में पूर्णतया झलकती है. ‘कहानी संग्रह’ की भाषा सहज-सरल अवधी मिश्रित खड़ी बोली है. आंचलिकता के प्रति अतिशय व्यामोह तथा पूर्वाचल के अत्यंत देशज शब्दों के जबर्दस्ती प्रयोग ने कथारस को ‘भदेसपन’ से संपृक्त कर दिया है. “झाड़े फिरना”, “भादों के भैसे की तरह चरना” जैसे ‘लोक शब्द’ शिष्ट साहित्य के सौंदर्य को धूमिल कर देते हैं.

गांव के प्राकृतिक सौंदर्य से आच्छादित मुख पृष्ठ का सौंदर्य मनमोहक है. साफ़-सुथरी छपाई भी संग्रह के सौंदर्य में वृद्धि करती है. जो रचनात्मक शिथिलता दर्शित होती है, वह केवल इसीलिए

कि 'अपना गांव' कहानीकार की प्रथम कृति है. लेखक पेशे से हिंदी अध्यापक हैं. सौंदर्य को परखने की क्षमता और दृष्टि भी पूर्ण परिपक्व है. लेखक की साहित्य-जगत में उपस्थिति नये भोर की 'दस्तक' के रूप में है.

✍ मिसरौली, पत्रालय- लंभुआ,  
सुलतानपुर (उ.प्र.)- २२२३०२

## कथ्य को संप्रेषित करने में सक्षम लघुकथाएं

✍ डॉ. भगत सिंह

जब मूर्ति बोली (ल.सं) : मदन मोहन उपेंद्र

प्रकाशक : सम्यक संस्थान, ए-१०, शांतिनगर, मथुरा

मूल्य : १०० रु.

'लघुकथा' कथा साहित्य की सबसे छोटी सरल एवं मानवीय संवेदनाओं को स्पंदित करने की क्षमता रखनेवाली विधा है. यद्यपि लघुकथा का उद्भव उतना ही पुराना है, जितना कथा साहित्य का तथापि एक विधा के रूप में उसकी पहचान बीसवीं शताब्दी के मध्य से बनी है. आठवें दशक में लेखकों ने उसे गंभीर विधा के रूप में सक्रियता से अपनाया शुरू किया और आज लघुकथा किसी परिचय की मुंहताज विधा नहीं रही है.

लघुकथा का सबसे विशिष्ट लक्षण उसका लघु आकार ही है. यह अपने छोटे से छोटे स्वरूप में उठाये गये कथ्य की संवेदना वहन करती है. अनावश्यक विस्तार से बचते हुए लघुकथा अपने लघु से लघु आकार में कथ्य के पूर्ण संप्रेषण की मांग करती है. ऐसे ही लघु स्वरूप में कथ्य की संवेदना को वहन करती मदन मोहन उपेंद्र की कृति 'जब मूर्ति बोली' है. इसमें रचनाकार की कुल ४४ लघुकथाएं संग्रहित हैं जिसमें समकालीन जीवन स्थितियों की विद्रूपताओं पर मारक व्यंग्य प्रहार है. ये प्रहार यह दर्शाते हैं कि जीवन जितना भी जटिल, क्षिप्त और उलझन पूर्ण होता जा रहा है कथाकार का दायित्व उतना ही बढ़ता जा रहा है. कथाकार ने आधुनिक जीवन में ऊहापोह, आशा-आकांक्षा, स्वप्न संभावना को बड़ी सूक्ष्मता से जांचा है, परखा है और भोगे गये यथार्थ के दर्द की अनुभूति के साथ मिलकर उसे उजागर किया है- 'हर संबंध का अपना मूल्य होता है जैसे सौदा न पटने पर ग्राहक दुकान छोड़ देता है. ठीक वैसे ही संबंध भी टूटते और जुड़ते रहते हैं. सामाजिक संबंधों का लिजलिजापन कि मैनेजर और अध्यापिका का संबंध, नौकर और सेठ का संबंध. बाबू और साहब का संबंध, आखिर किस मुकाम पर जुड़ते और टूटते हैं. बड़ा मुश्किल है यह सब समझ पाना.'

लघुकथा लेखकों में श्री उपेंद्र जी का नाम कोई बहुत बड़ा नाम नहीं है लेकिन इन्होंने समकालीन जीवन बोध को नये तेवर, नयी भंगिमा के साथ उकेरा है, इसलिए इनकी लघुकथाएं मन को बांधे रखती हैं, कई शब्द चित्र तो मन पर उत्सुकता की हद तक, समापन के बाद भी, एक अनुगूंज छोड़ जाते हैं जो पाठक की चेतना को झकझोरने के लिए, सोचने के लिए मजबूर करते हैं जैसे 'डाकू तो आये थे' रचना जिसमें गांव में डाकू आने की खबर पर थानेदार जी का गांव में आना और सुरक्षा के नाम पर गांव में रात्रि निवासन पर उस अबला से व्यभिचार करने पर ये पंक्तियां- 'उधर मुखिया जी की रात चैन से गुजर गयी. सबेरा हुआ और दरोगाजी चाय नाश्ता ले रहे थे. सभी डाकुओं के न आने से खुश थे. किंतु धनिया अपने छप्पर में पड़ी हांफ रही थी क्योंकि मुखिया के यहां न सही किंतु उसके यहां तो डाकू आये थे और वह बुरी तरह लूट ली गयी थी.'

कोई भी कहानी या लघुकथा जब तक समाज का उससे सरोकार न हो, किसी में रुचि पैदा नहीं कर सकती है. उसमें पाठक का अपने आस-पास का वातावरण, पात्र, घटनाक्रम नजर नहीं आता तो वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाती इसलिए जीवंत रचना वही स्वीकार्य जाती है जिसके पात्रों आदि के साथ अपनापन सहजता से हो जाये. इस दृष्टि से भी श्री उपेंद्रजी की लघुकथाएं सहजता से रुचि पैदा करती हैं क्योंकि आज भी मध्यम वर्गीय समाज में 'शांता' सहजता से मिल जायेगी जो सात फेरों के बंधन को निभा रही है और पति के अत्याचारों को सहते हुए भी निकम्मे पतियों को ढो रही है.

समाज की दयनीयता और उसकी जीर्ण-शीर्ण परंपराएं, आस्थाहीनता, भ्रष्टाचार सभी पर लेखक ने अपनी लेखनी चलाई है. 'कितने टैक्स' नामक लघुकथा में तरह-तरह के तथाकथित टैक्सों को चित्रित किया है जिनमें बेरोजगारी से दंशित सामान्य वर्ग मेहनत से दो जून की रोटी नहीं कमा पाता. बेरोजगारी की चक्की में पिसते युवक ने किसी की सलाह पर चाय की ठेली लगा दस-बीस रुपये कमाने का प्रयास किया परंतु दादा का टैक्स, चुंगी का टैक्स, झाड़ू वाले जमादार का टैक्स, सिपाही का टैक्स देते-देते उसका सोचना- "बेचारे ठेलीवालों का भी कैसा प्रारब्ध है, और कितने टैक्स उन्हें जाने अनजाने देने पड़ते हैं?"

रिशतों की संवेदनशीलता के अभाव और मानव के आत्मकेंद्रित स्वभाव की ओर भी लेखक ने "संबंधों का सूत्र" जैसी रचनाओं के माध्यम से ध्यान खींचा है - भाई की पत्नी को देवर का घर में एक दिन रुकना कितना असहनीय हो गया, देखें - "भाभी कह रही थी - यह निठल्ला यहां रहेगा तो मैं आज ही बच्चों को लेकर मां

के पास चली जाऊंगी.”

आज लघुकथा में दो बड़े दोष दृष्टिगोचर हो रहे हैं - पहला संप्रेषणीयता का अभाव और दूसरा सपाटपन. कुछ लघुकथाएं अपनी जटिलता या अस्पष्टता के कारण पूर्णतः संप्रेषित नहीं हो पातीं. ये दोष उपेंद्र जी की लघुकथाओं में नहीं दिखे.

प्रवक्ता, डी.एस.कॉलेज, अलीगढ़ (उ. प्र.)

## विस्तृत अनुभव का संसार

सोमदत्त शर्मा

कब लौटेगा नदी के उस पार गया आदमी (कविता संग्रह):

भोलानाथ कुशवाहा

प्रकाशक : अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद. मूल्य : रु. २२५/-

‘कब लौटेगा नदी के उस पार गया आदमी’- भोलानाथ कुशवाहा का पहला कविता संग्रह है. इसमें कुल ९२ कविताएं संग्रहीत हैं. इन्हें नौ अलग-अलग खंडों में विभाजित किया गया है. कविताएं आस-पास की परिस्थितियों, विसंगतियों और मनःस्थितियों से उपजी हैं. ‘संवादहीनता’, ‘भिखारी’, ‘बिछियों का शहर’, ‘आज की ताज़ा खबर’, ‘विभाजन’ ऐसी ही कविताएं हैं जिनमें हमारा आज का समय मुखरित हुआ है.

संग्रह की कविताएं पढ़ने पर स्पष्ट हो जाता है कि कवि का अनुभव संसार विस्तृत है. ‘चौराहे की मंडी’ से लेकर ‘क्रांति के लक्षण’ तक को कवि ने भावाभिव्यक्ति दी है और इस सबमें कल्पना और यथार्थ के बीच गजब का समन्वय स्थापित किया है. ‘धीरे-धीरे’ कविता में बड़ी सहजता से कवि ने अपने समय के समाज की संवेदनहीनता को रेखांकित करते हुए बताया है कि किस तरह इस संवेदनहीनता ने पूरी धरती को प्रभावित किया है-

धीरे धीरे/सभी मुड़ गये/ अपनी दिशाओं में/  
नदी की बात/ पुल की बात /शहर की बात /  
सुनाकर /धीरे-धीरे /सूरज /लौट गया /  
अपने घर / फिर मिलने का /वादा कर /  
धीरे-धीरे / रात ने /कब्जा कर लिया / पूरी धरती पर.

भोलानाथ कुशवाहा मूलतः पत्रकार हैं. पत्रकार अपने समय से रू-ब-रू होता है. अलग-अलग कारणों से, अलग-अलग परिस्थितियों से. यथार्थ की अलग-अलग भंगिमाओं से कवि की टकराहट होती है. कभी इस टकराहट में इस तरह संकुलता पैदा हो जाती है कि कवि का वास्तविक मंतव्य समझना मुश्किल हो जाता है. कवि की कविता है - ‘भीड़ से रिश्ता’ कवि जानता है कि भीड़ और भेड़ के स्वभाव में कोई खास फर्क नहीं होता. दोनों में ही मानसिक परिपक्वता परिलक्षित नहीं होती. इसलिए कवि

बार-बार उस भीड़ से अपना रिश्ता तोड़ लेता है. लेकिन फिर दूसरे ही क्षण वह उस भीड़ से उम्मीद कर बैठता है कि वह कुरीतियों पर हमला करे. अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाये. लेकिन कवि इस कविता में सही नेतृत्व की तलाश को रेखांकित करना नहीं भूलता, जिसकी भीड़ को तलाश होती है. वास्तव में कविता में भीड़ एक ऐसी ऊर्जा का प्रतीक बन गयी है, जिसे ठीक से ‘चैनेलाइज’ करने की आवश्यकता सर्वत्र महसूस की जा रही है.

कई बार कविता विचारों और भावों के चंगुल में इस तरह फंस जाती है कि उसे सही मायने में अर्थ संप्रेषण में कठिनाई होती है लेकिन भोलानाथ कुशवाहा इसके अपवाद हैं. वे सरल हैं, सहज हैं. मगर बेहतर सजग हैं. अपने समय को बखूबी समझते हैं. शायद इसीलिए उनकी सरलता में गंभीर मंतव्य छिपे हैं और गंभीर मंतव्य सरलता का संवाहक बन गया है. इनकी भाषा बोझिल नहीं है. बिंब सामान्य जीवन से उभरकर आये हैं. प्रतीकों के चयन में दुरुहता नहीं है. इस सबके बावजूद एक बात की ओर ध्यान दिलाना मेरा कर्तव्य है. आज की मुख्यधारा की कविता ‘स्टेटमेंट’ और ‘रागात्मकता’ का फर्क कई बार भूल जाती है. कवि जानता है, ‘स्टेटमेंट’ कविता नहीं होता और कविता को स्टेटमेंट के रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता. कहीं कहीं कवि भी अपने प्रस्तुति विधान में इस गफलत का शिकार हुआ दिखता है लेकिन चूंकि भोलानाथ कुशवाहा सजग पत्रकार हैं इसलिए अपने कवि को ऐसी विषम परिस्थिति से बाहर निकाल पाने में समर्थ सिद्ध हुए हैं. इस अर्थ में वे एक समग्र कवि भी हैं.

आई-९४, गोविंदपुरम, गाजियाबाद (उ.प्र.)

## कविता : संदर्भ बनारस

सोमदत्त शर्मा

अकारण (कविता संग्रह) : राजेंद्र आहुति

प्रकाशक : अभिधा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर (बिहार) ८४२००२

मूल्य : १५० रु.

‘अकारण’ पुस्तक बनारसी कवि राजेंद्र आहुति द्वारा रचित सौ कविताओं का संकलन है. कवि ने काव्य और छंद के मानक अंत्यानुप्राश एवं मात्राओं के बंधन से अपने आप को सदैव मुक्त रखा है. कविताओं में प्रवाह कभी द्रुत तो कभी मंथर! बनारस जैसे संस्कृति संपन्न नगर से जुड़े रहने के कारण तमाम रचनाओं में इस ऐतिहासिक एवं धार्मिक स्थल का परोक्ष एक संदर्भ के रूप में देखने को मिलता है तो दूसरी ओर समाज में व्याप्त बुराइयां यथा- भ्रूण परीक्षण, गर्भपात, भ्रूणहत्या, गरीबी, धन के प्रति व्यामोह,

नेतागिरी के पतनशील मूल्य आदि का सटीक वर्णन इन रचनाओं में मिलेगा. कूड़े के ढेर से जीविकोपार्जन करनेवाले आदमी से लेकर समाज का मध्यमवर्गीय नौकरीपेशा आदमी या पुलिस अफसर के कर्तव्य निर्वाहन में वैयक्तिक जीवन की बेबसी अत्यंत मार्मिक ढंग से पेश की गयी है- दरोगा भी आदमी है/अपराधियों से सांठागांठ रखता है अपनी सुरक्षा के लिए और बच्चों के भविष्य के लिए / मेरी पत्नी की बिंदिया चौबीस घंटे कांपती है.

“पिता की याद का सफ़र” रचना में पाठक एक मध्यम वर्गीय कर्मचारी या अधिकारी का पात्र आत्मसात करता है -

जब भी टी.ए. के लोभ में बाहर जाते थे पिता / दिनभर बाहर रह हराभरा रहे पेट, इतने पैसे टी.ए. में नहीं मिलते थे उन्हें / और बांध दिया करती थी मां / साड़ी के टुकड़े में / कुछ रोटियां अचार के साथ. समर्पित नौकरीपेशा लोगों में न चाहते भी अपने घर की उपेक्षा करने की विवशता होती है.

कारगिल के युद्ध का मार्मिक शब्द चित्र खींचा है रचनाकार ने- दोनों देशों में जारी है पैदावार विधवाओं की, अनाथों की / प्राण लेकर नहीं प्राण देकर बचाई जाती है प्रतिष्ठा देश की. रचनाकार ने स्पष्ट किया है कि जो किसी सैनिक की देशभक्ति अनुभव करे, वही व्यक्ति “सैनिक राहत कोष” में दान देने का आवाहन कर सकता है.

आजकल की समस्याएं - पैसा पैदा करने की आपाधापी, व्यवसाय बनी शिक्षण व्यवस्था, किसानों का आत्मप्राणोत्सर्ग आदि पर पठनीय सामग्री समाहित है - ‘अकारण’ में.

नई सदी में प्रेम की परिभाषा दी गयी है. वह एक प्रकार का कटाक्ष ही है - कंप्यूटर से वायुयान में उड़ते उड़ते / ढाई आखर दरसाने में / अहम भूमिका अदा कर रही हैं परिचारिकाएं / सबरी का बेर / शहर में आकर वस्तु हो गया है / जो अब घर का दाम अदा कर रहा है.

बनारस के सांस्कृतिक एवं विशिष्ट पारंपरिक परिप्रेक्ष्य में रचनाकार ने सजीव चित्रण किया है- गंगा महोत्सव का बुढ़वा मंगल रंगारंग कार्यक्रम, मीरघाट, अस्सी, नाव, नाविक, दशाश्वमेध घाट, सीढ़ियां, मंदिर, हरिश्चंद्र घाट, मणिकर्णिका घाट, नगाड़ा, बोलता झींगुर, मेढक की टर्टर, बाजार, चाट की दूकान, रांड, सांड, सन्यासी, फल्गु नदी, मसान बाबा, काली मां की मूर्ति, चिलम से गांजे का धुआं, लंबोदर साधू, प्रदूषण के कारण, गंगा की व्यथाकथा, काशी नरेश की अंतिम यात्रा, कालू डोम के वंशज आदि विषयों का समावेश विभिन्न रचनाओं में है.

साधारण से साधारण विषयों पर मस्तिष्क को कुरेदनेवाले विचारों का अद्भुत प्रस्तुतीकरण है, ‘अकारण’ में. ये विषय हैं -

टेस्ट ट्यूब बेबी, पत्नी, पिता, पटना का प्लेटफॉर्म नं. २, खांसने की प्रथाकथा, सिगरेट - पान, रसोई की दाल, पुरानी चप्पलें, समय आदि के अतिरिक्त प्रकृति संबंधी विषय जैसे - मौसमी वारदात, धूप, कोहरा, झरना, गंध, बारिश को व्यक्त करने का निराला ढंग अपनाया है रचनाकार ने - ये बारिश की बूंदें हैं / या मौसम के हैं आंसू / या ठंड का है पसीना.

इस सदी का आदमी सुविधा भोगी है - सीढ़ियों की उपयोगिता नष्ट हुई / लिफ्ट की प्रवृत्ति/ सुविधाभोगी वर्गों में छा गयी / श्रम से अधिक बढ़ा महत्व बटन दबाने का.

शव को कंधा देना- शवदाह आदि मनुष्यजीवन से जुड़ी कुछ सच्चाइयां हैं जिन्हें आदमी नकारना पसंद करता है. इन विषयों पर रचनाकार ने कहीं न कहीं लिखा अवश्य है.

सूर्य-प्रकाश, मेधा, बुद्धि, जीवन, सुख, समृद्धि का प्रतीक है किंतु रचनाकार ने “सच के रास्ते आर्येगी खुशियां” रचना में इसके विपरीत कहा है-

चतुराई की जंजीर कसने लगती है मस्तिष्क को/ तो मन की पूर्व दिशा में/ उगने लगता है भास्कर मूर्खता का.

रचनाकार की यह चेष्टा विरोधाभास ही नहीं बल्कि रसाभास भी है. फिर भी कवि ने गद्य और पद्य के मध्य की गद्यात्मक कविता (जिसमें प्रवाह होना अनिवार्य है) लिखकर एक नवीन आयाम प्रतिष्ठित किया है. कवि होने का मनोविज्ञान, कवि होने का भोगा यथार्थ इन पंक्तियों से व्यक्त होता है- जब मिलने लगती है/ थोड़ी इधर-उधर प्रतिष्ठा/ होने लगती है इत उत चर्चा/ तभी एक कवि होता है सुकवि.

कवि ने एकांत को भी परिभाषित किया है- अकेला का अर्थ एकांत नहीं होता / एकांत में भी अकेला रहना संभव नहीं होता.

रचनाकार ने कदाचित सर्वोत्कृष्ट रचनाओं में से एक रचना दिवंगता मां के बारे में की है - मां तुम तो आओगी ही/ हमारे सपनों में/ पर हो सके तो मां! हम सबके सपनों से अधिक/ पिता के सपनों में आना/ दरअसल वे ही एकांगी हो चुके हैं आज!

कवि का आत्मकथ्य - हास की आस में उपहास को गले लगाया / स्वयं से अधिक औरो को हंसाया/ कहने से अधिक कविताएं लिखीं / उसी को पढ़कर मन बहलाया. आदि पंक्तियों से प्रकट होता है.

कुल मिलाकर ‘अकारण’ एक मनोरंजक, विचारोत्तेजक, ज्ञानवर्धक सृजन का उदाहरण है. कविताओं में रुचि लेनेवाले पाठकों के लिए यह पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है.

२०२, टॉवर डी-४, सागर दर्शन, सेक्टर-१८, पाम बीच रोड, नेरूल (प), नवी मुंबई-४००७०६

## शज़लें

देवमणि पांडेय

### ये चाह कब है मुझे

ये चाह कब है मुझे सब-का-सब जहान मिले,  
मुझे तो मेरी ज़मी, मेरा आसमान मिले.  
कमी नहीं है सजावट की इन मकानों में,  
सुकून भी तो कभी इनके दरमियान मिले.  
अजीब वक्रत है सबके लबों पे ताले हैं,  
नज़र नज़र में मगर अनगिनत बयान मिले.  
जवां हैं ख्वाब क़फ़स में भी जिन परिंदों के,  
मेरी दुआ है उन्हें फिर नयी उड़ान मिले.  
हमारा शहर या ख्वाबों का कोई मक़तल है,  
क़दम क़दम पे लहू के यहां निशान मिले.  
हो जिसमें प्यार की खुशबू, मिठास चाहत की,  
हमारे दौर को ऐसी भी इस जुबान मिले.

### सतीश गुप्ता

खौफनाक ये मंजर देख,  
आर-पार है खंजर देख.  
कतरे-कतरे को तरसा है,  
प्यासा एक समंदर देख.  
मंदिर-मस्जिद गुरुद्वारे में,  
रंग-बिरंगे पत्थर देख.  
गोली, बछीं, भाले, कपर्दू,  
हैवानों का लश्कर देख.  
धूप छुपी बादल के डर से,  
मौसम के ये तेवर देख.  
आस्तीन में रहते हैं ये,  
सांप, संपोले, अजगर देख.  
जिसको देख कबीरा रोया,  
हालत ऐसी बदतर देख.  
आज़ादी को गिरवी रख दें,  
सत्ता के सौदागर देख.

के-२२१, यशोदा नगर,  
कानपुर - २०८०११ (उ.प्र.)

### कब ऐसा सोचा था मैंने

कब ऐसा सोचा था मैंने मौसम भी छल जायेगा,  
सावन भादों की बारिश में घर मेरा जल जायेगा.  
रंजोगम की लंबी रातो! इतना मत इतराओ तुम,  
निकलेगा कल सुख का सूरज अंधियारा टल जायेगा.  
अक्सर बातें करता था जो दुनिया की तब्दीली की,  
किसे खबर थी वो दुनिया के रंगों में ढल जायेगा.  
नफ़रत की पागल चिंगारी कितनों के घर फूंक चुकी,  
अगर न बरसा प्यार का बादल सारा शहर जल जायेगा.  
दुख की इस नगरी में आखिर रैन बसेरा है सबका,  
आज रवाना होगा कोई और कोई कल जायेगा.

गुणवता आशवासन निदेशालय, आयकर  
भवन, कक्ष सं. २७१, न्यू मैरीन लाइन्स, मुंबई-४०० ०२०

### कैलाश सेंगर

सड़क ने जब मेरे पैरों की उंगलियां देखीं,  
कड़कती धूप में सीने पे बिजलियां देखीं.  
वो पहली बार अपनी उम्र से हुआ वाक्किफ़,  
शहर में जब किसी बच्चे ने तितलियां देखीं.  
लगा कुरआन के पन्नों ने आयतें देखीं,  
हमारी भूख ने जब जब भी पसलियां देखीं.  
जवान बेटियों की मौत पर वो बेबस है,  
तड़पती रेत में सागर ने मछलियां देखीं.  
भरे बुखार में माथे पे भीगती पट्टी,  
कुछ इस तरह से किसानों ने बदलियां देखीं.  
वो ले के आये थे झोली में अमन के दाने,  
कबूतरों ने मगर उसमें सुतलियां देखीं.  
‘संकल्पना’ सोसायटी, प्लॉट नं. ११-२३,  
एस.वी.पी.नगर, अंधेरी (प.), मुंबई - ४०० ०५३

आपको यह अंक कैसा लगा? हमें  
आपकी प्रतिक्रिया का बेसब्री से इंतज़ार  
रहता है. - संपादक



## कविता

### बची है बहुत आस

✍ तेज राम शर्मा

धागे से छूटे हुए  
मनकों की तरह दोस्त  
बहुत दूर न चले जाना मुझसे,  
अभी सुई और धागे में  
बची है बहुत आस.  
जीवन के महासागर में  
थम ही जायेगा तूफान,  
छंट ही जायेंगे,  
गहरे काले बादल,  
दूँढ़ ही लूंगा मैं तुम्हें  
इस यात्रा में  
ध्रुव तारे की तरह.  
जीवन की गोधूलि में ही सही  
समय की धुंधली धूल के बीच से  
लौट आना,  
सूनी टहनी पर कौपल की तरह,  
सूनी आंखों में आंसू की तरह,  
जैसे धरती की फटी आंखों के जाले में  
लौट आती है उम्मीद,  
लौट आओ तो

## गज़ल

### खुदा के घर गये हैं

✍ जे. पी. टंडन 'अलौकिक'

मेरे जख्मों में जो नमक भर गये हैं,  
वे अपना, काम तमाम कर गये हैं.  
एक दिन तो सभी को मरना है यारों,  
वे तो मेरे लिए अभी से मर गये हैं.  
बोलती नहीं निकलती है, शायद वे,  
अपना साया देखकर डर गये हैं.  
ऋतुराज के बाद पतझर आते ही,  
सूखे-सूखे व पीले पत्ते झर गये हैं.  
डूबने वाले बच्चे की मुट्टी से छीन के,  
दो का सिक्का अलमारी में धर गये हैं.  
जीवन का अंतिम दिन काट करके,  
अब अलौकिक खुदा के घर गये हैं.

✍ २/१४७ खतराना, जि. फर्रुखाबाद (उ.प्र.)

बिखरने न दूंगा  
धागे की अढ़ाई गांठ में बांध  
मोती-से चमकेंगे  
फिर माला में साथ-साथ.

✍ रामकृष्ण भवन, अनाडेल,  
शिमला - १७१००३

## लघुकथा

### रखवाला

पार्क में दस-बारह चक्कर लगाने के बाद मुझे थकान सी महसूस हुई और मैं एक बेंच पर जाकर बैठ गया. अचानक क्या देखता हूँ कि कोई कंबल लपेटे नीचे घास पर पड़ा है. जब मैं उसे उठाने को हुआ तो सामने-वाली बेंच पर बैठे एक अधेड़ उम्र के व्यक्ति ने मुझे आवाज़ लगाते हुए कहा - “भाई साहब! इसे पड़ा रहने दो और आप भी इधर आ जाओ.”

‘मुझ पर ही कोई संकट न आन पड़े’, यह सोचकर मैं उधर ही जा बैठा. तब उस व्यक्ति ने बताया, “यह शराब के नशे में धुत्त है, नशा टूटेगा तो खुद ही खड़ा हो जायेगा, आप परेशान न हों.”

मैंने उत्सुकतावश पूछ लिया, “पर यह है कौन जो इतनी ठंड में यहां घास पर पड़ा है?”

उनका उत्तर था, “यह मेरा बड़ा लड़का है. सुबह पांच

बजे ड्यूटी करके आया और पीना शुरू कर दिया. होश से बाहर होते ही घर से निकलने लगा. मैंने बहुत रोका, पर मानता कौन है. कंबल उठाये मैं भी पीछे-पीछे हो लिया और यहां आकर इस पर डाल दिया. अब हर आते-जाते को टोकना पड़ता है. कभी गली में गिरा होता है तो कभी सड़क पर. क्या करूँ? बहुत परेशान हूँ - आखिर बाप हूँ ना!”

और भी न जाने वह क्या-क्या कहता रहा, पर मैं उसे अनसुना करके वहां से उठ खड़ा हुआ, क्योंकि उसके मुंह से भभके मारती शराब की गंध अब मेरे लिए असह्य हो चली थी.

✍ पोस्ट बॉक्स-४५, १४१४/१४,  
गांधीनगर, रोहतक - १२४००१

## लघुकथा

# ‘हम हिंदुस्तानी’

घनश्याम अग्रवाल

एक आदमी पर सरकारी वकील ने इल्जाम लगाते हुए अदालत में कहा ‘मी लॉर्ड, इस आदमी के पास राशन कार्ड नहीं है. ज़ाहिर है कि इसे आटे-दाल की कोई फ़िक्र नहीं है. इसका नाम किसी वोटर लिस्ट में भी नहीं है. इसकी बातों में न सरकार से कोई शिकायत है और न ही महंगाई का रोना है. इतना ही नहीं, यह फटेहाल होकर भी सदा हंसता और मस्त रहता है. इस पर अपने आप को हिंदुस्तानी भी कहता है. मी लॉर्ड, इसका चेहरा गौर से देखिए, चिंता की एक भी रेखा नहीं है - ज़रूर ये विदेशी जासूस होगा. भारत में तो हमने आज तक ऐसा आदमी देखा नहीं है. देट्स आल, मी लॉर्ड.’

‘तुम अपनी सफ़ाई में कुछ कहना चाहोगे?’ जज ने पूछा.

‘हुज़ूर, सरकारी वकील ने जो-जो मेरे बारे में बताया वो सच है, पर मैं विदेशी नहीं हूँ - मैं कसम खाकर कहता हूँ. मैं भारतीय हूँ. मुझे जाने दीजिए.’

‘अच्छा तू भारतीय है तो फिर जज साहब को भारत का राष्ट्रीय गीत गाकर सुना,’ सरकारी वकील ने कहा.

वह आदमी गाने लगा ‘.....जन....गन....मन....’ उसने आधा राष्ट्रगीत गाया. आधा भूल गया.



उस पर सरकारी वकील उछलते हुए बोला - ‘देखा, मी लॉर्ड, मैं न कहता था....’

‘ऑर्डर-ऑर्डर.’ जज साहब ने सरकारी वकील की बात काटते फैसला सुनाते हुए कहा - ‘अदालत सरकारी वकील से इस्तेफ़ाक रखती है - उसने जो-जो लक्षण बताये वे किसी भारतीय के नहीं हो सकते. किंतु अंत में मुज़रिम को राष्ट्रगीत का पूरा-पूरा याद न होना इससे शक होता है कि कहीं यह भारतीय तो न हो.’

‘अतः संदेह का लाभ देते हुए अदालत मुज़रिम को बा-इज़्जत बरी करती है.’

अलसी प्लॉट, अकोला - ४४४००४

## : प्राप्ति स्वीकार :

परकीया (उपन्यास) : पं. नरेशकुमार शर्मा, नीलकंठ प्रकाशन, सुभाष नगर, जोगेश्वरी, मुंबई-४०० ०६०. मू. १०० रु.

मुआवज़ा (क.सं.) : डॉ. डी.के.गर्ग, क्षितिज प्रकाशन, १०१ हंस भवन, नयी दिल्ली-११० ००२. मू. ३०० रु.

शब्द-संवाद (ल.सं.) : प्रताप सिंह सोनी, स्पूतनिक साप्ताहिक, फिरोज़ गांधी परिसर, इंदौर. मू. १०० रु.

समप्रभ (ल.सं.) : सं. प्रताप सिंह सोनी/डॉ. योगेंद्रनाथ शुक्ल, साहित्य कलश, ५६६ गुमाश्ता नगर, इंदौर. मू. ६० रु.

पत्रकारिता कोश २००८ : सं. मो.आफताब आलम, प्लॉट नं. ४-जे-७, शिवाजीनगर, गोवंडी, मुंबई - ४०० ०४३. मू. १३० रु.

जाल के अंदर जाल मियां (ग.सं.) : अशोक ‘अंजुम’, संवेदना प्रकाशन, कासिमपुर, अलीगढ़-२०२१२७. मू. -१०० रु.

दुनिया-भर के गम थे (रा.सं.) : श्याम सखा ‘श्याम’, प्रयास ट्रस्ट, १२ विकास नगर, रोहतक - १२४००१. मू. १०० रु.

खुशबू (ग.सं.) : ऋषिवंश, डायमंड पॉकेट बुक्स, ओखला इंड. एरिया फेज-२, नयी दिल्ली-११० ०२०. मू. ७५ रु.

संदर्भों की आग (दो.सं.) : जय चक्रवर्ती, उत्तरायण प्रकाशन, एम-१६८, आशियाना, लखनऊ-२२६०१२. मू. १५० रु.

आज़ादी रिटायर हो रही है (क.सं.) : डॉ. गणेश गायकवाड़, संवेदना प्रकाशन, कासिमपुर, अलीगढ़-२०२१२७. मू. १५० रु.

बीच डगरिया (गी.सं.) : अक्षय गोजा, मांडवी प्रकाशन, ८८-रोगनग्रान, देहली गेट, गाजियाबाद-२०१ ००१. मू. १०० रु.

गज़ल वाटिका (ग.सं.) : मरयम गज़ाला, ६०१ विघ्नहर्ता बि., शिवाजी पथ, गांवदेवी, ठाणे-४०० ६०२. मू. १०० रु.

कथाविंब / अप्रैल - जून २००८ ॥ ४४ ॥

## संस्कृति संरक्षण संस्था

पंजीकरण संख्या : E23216/7-2-2006

ए-१० बसेरा, ऑफ दिन-कारी रोड, देवनार, मुंबई : ४०००८८ फोन : ०२२-२५५१५५४१

संस्था का प्रमुख उद्देश्य ऐसे व्यक्तियों को साथ में लाकर एक ऐसा मंच उपलब्ध कराना है जो संस्कृति संरक्षण में विश्वास रखते हों और समय-समय पर निजी तौर पर स्थानीय कार्यक्रम करते रहते हैं. इन व्यक्तियों को एक मंच प्रदान कर, एकजुट करके बिखरती संस्कृति का संरक्षण किया जा सके.

अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संस्था का प्रथम प्रयास है कि लगभग आधा एकड़ जमीन प्राप्त कर संस्था के भवन का निर्माण किया जाये जहां संस्था की विभिन्न गतिविधियां संचालित व आयोजित की जा सकें.

संस्था की कुछ गतिविधियां हैं-

- संगीत, नृत्य व ललित कलाओं की कक्षाएं चलाना.
- साहित्य व भाषा संबंधी कार्यक्रमों का आयोजन.
- साहित्यिक पत्रिका ("कथाबिंब") का प्रकाशन.
- पुस्तकालय चलाना.
- देश के विभिन्न राष्ट्रीय पर्वों व त्यौहारों पर कार्यक्रमों के आयोजन.

आयकर के **80 G** अधिनियम के अंतर्गत संस्था का पंजीकरण हो गया है. सुहृदय दानदाताओं से प्रार्थना है कि वे संस्था की गतिविधियों को अपेक्षित गति देने के प्रयास में भागी हों. हर वर्ग के लोगों के सहयोग का स्वागत है.

## विपाशा

अखिल भारतीय कहानी प्रतियोगिता-२००८

प्रथम पुरस्कार : ५००० रुपये, द्वितीय पुरस्कार : ४००० रुपये

तृतीय पुरस्कार : ३००० रुपये, चार सांत्वना पुरस्कार : २००० रुपये (प्रत्येक)

कहानी २ अक्तूबर २००८ तक निम्नलिखित पते पर पहुंच जानी चाहिए-

संपादक- 'विपाशा'

भाषा एवं संस्कृति विभाग,

३९- एस.डी.ए., शिमला- १७१००९

फोन नं. : ०१७७- २६२६६१४-१५, मोबाइल : ९४१८०८६९८६

साहित्य, संस्कृति एवं कला को समर्पित द्वैमासिक 'विपाशा' की एक प्रति का मूल्य १५ रुपये, वार्षिक : ६० रुपये, त्रैवार्षिक : १५० रुपये। पत्रिका विक्रेताओं को २५ प्रतिशत कमीशन देय. ग्राहकता शुल्क संपादक विपाशा के पते पर मनीऑर्डर द्वारा ही भेजें.

कथाबिंब / अप्रैल - जून २००८ ॥ ४७ ॥

# कथाबिंब

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका  
(१९७९ से निरंतर प्रकाशित)

विज्ञापन दरें एवं आकार संबंधी जानकारी

पत्रिका-आकार : २४ सेंमी X १९ सेंमी छपाई का क्षेत्रफल : २१ सेंमी X १६ सेंमी

स्थान	दर	स्थान	दर
पिछला आवरण	: १०००० रु.	पूरा पृष्ठ	: ३००० रु.
दूसरा/तीसरा आवरण/ भीतरी रंगी पृष्ठ	: ५००० रु.	आधा पृष्ठ	: २००० रु.

पैनल विज्ञापन (एक पृष्ठ का १/६ भाग) : ७५० रु.

अधिक जानकारी के लिए कृपया संपर्क करें :

प्रचार-प्रसार व्यवस्थापक, 'कथाबिंब',  
ए-१०, बसेरा, ऑफ दिन कारी रोड, देवनार, मुंबई- ४०० ०८८.

## निवेदन

### रचनाकारों से

'कथाबिंब' एक कथा प्रधान त्रैमासिक पत्रिका है, कहानी के अलावा लघुकथाओं, कविता, गीत, गजलों का भी हम स्वागत करते हैं. कृपया पत्रिका के स्वभाव और स्तर के अनुरूप ही अपनी श्रेष्ठ रचनाएं प्रकाशनार्थ भेजें. साथ में यह भी उल्लेख करें कि विचारार्थ भेजी गयी रचना निर्णय आने तक किसी अन्य पत्रिका में नहीं भेजी जायेगी.

१. कृपया केवल अपनी अप्रकाशित और मौलिक रचनाएं ही भेजें. अनूदित रचनाओं के साथ मूल लेखक की अनुमति आवश्यक है.
२. रचनाएं कागज के एक ओर अच्छी हस्तलिपि में हों अथवा टंकित करवा कर भेजें.
३. रचनाओं की प्रतिलिपि अपने पास रखें. वापसी के लिए स्व-पता लिखा, टिकट लगा लिफ़ाफ़ा अवश्य साथ रखें. अन्यथा रचना संबंधी किसी भी प्रकार का पत्राचार करना संभव नहीं होगा.
४. सामान्यतः प्रकाशनार्थ आयी कहानियों पर एक माह के भीतर निर्णय ले लिया जाता है, अन्य रचनाओं की स्वीकृति या अस्वीकृति की अवधि दो से तीन माह हो सकती है. कहानियों के अलावा चयन की सुविधा के लिए एक बार में कृपया एक से अधिक रचनाएं (लघुकथा, कविता, गीत, गजल आदि) भेजें.

### ग्राहकों/सदस्यों से

कृपया समय रहते अपने शुल्क का नवीनीकरण करा लें. नये सदस्यों/ग्राहकों को शुल्क प्राप्त होने की अलग से सूचना भेजना संभव नहीं है. यदि तीन माह के भीतर नया अंक न मिले तो कृपया अवश्य सूचित करें.

## ‘कथाबिंब’ के आजीवन सदस्य

आजीवन सदस्यों के हम विशेष आभारी हैं. जिनके सहयोग ने हमें ठोस आधार दिया है. सभी आजीवन सदस्यों से निवेदन है कि वे एक या दो या अधिक लोगों को आजीवन सदस्यता स्वीकारने के लिए प्रेरित करें. संभव हो तो अपने संपर्क के माध्यम से विज्ञापन भी उपलब्ध करायें. यदि विज्ञापन दिलवा पाना संभव हो तो कृपया हमें लिखें.

- १) श्री अरुण सक्सेना, नवी मुंबई
- २) डॉ. आनंद अस्थाना, हरदोई
- ३) स्वामी विवेकानंद हाईस्कूल, कुर्ला, मुंबई
- ४) डॉ. डी. एन. श्रीवास्तव, नोएडा
- ५) डॉ. ए. वेणुगोपाल, मुंबई
- ६) डॉ. नागेश करंजीकर, मुंबई
- ७) डॉ. प्रेम प्रकाश खन्ना, मुंबई
- ८) श्री हरभजन सिंह दुआ, नवी मुंबई
- ९) डॉ. सत्यनारायण त्रिपाठी, मुंबई
- १०) श्री उमेशचंद्र भारतीय, नवी मुंबई
- ११) श्री अमर ठाकुर, मुंबई
- १२) श्री बी. एम. यादव, मुंबई
- १३) डॉ. राजनारायण पांडेय, मुंबई
- १४) सुश्री शशि मिश्रा, मुंबई
- १५) श्री भगीरथ शुक्ल, बोईसर
- १६) श्री कन्हैया लाल सराफ, मुंबई
- १७) श्री अशोक आंद्रे, दिल्ली
- १८) श्री कमलेश भट्ट ‘कमल’, मथुरा
- १९) श्री राजनारायण बोहरे, दतिया
- २०) श्री कुशेश्वर, कोलकाता
- २१) सुश्री कनकलता, दिल्ली
- २२) श्री भूपेंद्र शेट नीलम, जामनगर
- २३) श्री संतोष कुमार शुक्ल, शाहजहांपुर
- २४) प्रो. शाहिद अब्बास अब्बासी, पांडिचेरी
- २५) सुश्री रिफ़ात शाहीन, गोरखपुर
- २६) श्रीमती संध्या मल्होत्रा, यू. एस. ए.
- २७) डॉ. वीरेंद्र कुमार दुबे, चौरई
- २८) श्री कुमार नरेंद्र, दिल्ली
- २९) श्री मुकेश शर्मा, गुड़गांव
- ३०) डॉ. देवेंद्र कुमार गौतम, सतना
- ३१) श्री सत्यप्रकाश, मुंबई
- ३२) डॉ. नरेश चंद्र मिश्र, नवी मुंबई
- ३३) डॉ. लक्ष्मण सिंह विष्ट ‘बटरोही’, नैनीताल
- ३४) श्री एल. एम. पंत, मुंबई
- ३५) श्री हरिशंकर उपाध्याय, मुंबई
- ३६) श्री देवेंद्र शर्मा, मुंबई
- ३७) श्रीमती राजेंद्र कौर, नवी मुंबई
- ३८) डॉ. कैलाश चंद्र भल्ला, नवी मुंबई
- ३९) श्री नवनीत ठक्कर, अहमदाबाद
- ४०) श्री दिनेश पाठक ‘शशि’, मथुरा
- ४१) श्री प्रकाश श्रीवास्तव, वाराणसी
- ४२) डॉ. हरिमोहन बुधौलिया, वाराणसी
- ४३) श्री जसवंत सिंह विरदी, जालंधर
- ४४) प्रधानाध्यापक, ‘ब्लू बेल’ स्कूल, फतेहगढ़
- ४५) डॉ. कमल चोपड़ा, दिल्ली
- ४६) श्री आर. एन. पांडे, मुंबई
- ४७) डॉ. सुमित्रा अग्रवाल, मुंबई
- ४८) श्रीमती विनीता चौहान, बुलंदशहर
- ४९) श्री सदाशिव ‘कौतुक’, इंदौर
- ५०) श्रीमती निर्मला डोसी, मुंबई
- ५१) श्रीमती नरेंद्र कौर छाबड़ा, औरंगाबाद
- ५२) श्री दीप प्रकाश, मुंबई
- ५३) श्रीमती मंजु गोयल, नवी मुंबई
- ५४) श्रीमती सुधा सक्सेना, नवी मुंबई
- ५५) श्रीमती अनीता अग्रवाल, धौलपुर
- ५६) श्रीमती संगीता आनंद, पटना
- ५७) श्री मनोहरलाल टाली, मुंबई
- ५८) श्री एन. एम. सिंघानिया, मुंबई
- ५९) श्री ओ. पी. कानूनगो, मुंबई
- ६०) डॉ. ज. वी. यख्मी, मुंबई
- ६१) डॉ. ज. शर्मा, जालंधर
- ६२) श्री राजेंद्र प्रसाद ‘मधुबनी’, मधुबनी
- ६३) श्री ललित मेहता जालौरी, कोयंबटूर
- ६४) श्री अमर स्नेह, मीरा रोड, ठाणे
- ६५) श्रीमती मीना सतीश दुबे, इंदौर
- ६६) श्रीमती आभा पूर्वे, भागलपुर
- ६७) श्री ज्ञानोत्तम गोस्वामी, मुंबई
- ६८) श्रीमती राजेश्वरी विनोद, नवी मुंबई
- ६९) श्रीमती संतोष गुप्ता, नवी मुंबई
- ७०) श्री विशंभर दयाल तिवारी, मुंबई
- ७१) श्री अभिषेक शर्मा, नवी मुंबई
- ७२) श्री ए. बी. सिंह, निंबोहड़ा, चित्तौड़गढ़
- ७३) श्री योगेंद्र सिंह, भदौरिया, मुंबई
- ७४) श्री विपुल सेन ‘लखनवी’, मुंबई
- ७५) श्रीमती आशा तिवारी, मुंबई
- ७६) श्री गुप्त राधे प्रयागी, इलाहाबाद



- ७७) श्री महीर रवांटा, बुलंदशहर  
 ७८) श्री रमेशचंद्र श्रीवास्तव, इलाहाबाद  
 ७९) डॉ. रमाकांत रस्तोगी, मुंबई  
 ८०) श्री महीपाल भूरिया, मेघनगर, झाबुआ (म.प्र.)  
 ८१) श्रीमती कल्पना बुद्धदेव 'ब्रज', राजकोट  
 ८२) श्रीमती लता जैन, नवी मुंबई  
 ८३) श्रीमती श्रुति जायसवाल, मुंबई  
 ८४) श्री लक्ष्मी सरन सक्सेना, कानपुर  
 ८५) श्री राजपाल यादव, कोलकाता  
 ८६) श्रीमती सुमन श्रीवास्तव, नवी दिल्ली  
 ८७) श्री ए. असफल, भिंड (म.प्र.)  
 ८८) डॉ. उर्मिला शिरीष, भोपाल  
 ८९) डॉ. साधना शुक्ला, फतेहगढ़  
 ९०) डॉ. त्रिभुवन नाथ राय, मुंबई  
 ९१) श्री राकेश कुमार सिंह, आरा (बिहार)  
 ९२) डॉ. रोहितश्याम चतुर्वेदी, भुज-कच्छ  
 ९३) डॉ. उमाकांत बाजपेयी, मुंबई  
 ९४) श्री नेपाल सिंह चौहान, नाहरपुर (हरि)  
 ९५) श्री रूप नारायण तिवारी 'वीरान', बिलासपुर  
 ९६) श्री जे. पी. टंडन 'अलौकिक', फर्रुखाबाद  
 ९७) श्री शिव ओम 'अंबर', फर्रुखाबाद  
 ९८) श्री आर. पी. हंस, मुंबई  
 ९९) सुश्री अल्का अग्रवाल सिगतिया, मुंबई  
 १००) श्री मुन्नू लाल, बलरामपुर (उ.प्र.)  
 १०१) श्री देवेन्द्र कुमार पाठक, कटनी  
 १०२) सुश्री कविता गुप्ता, मुंबई  
 १०३) श्री शशिभूषण बडोनी, मसूरी  
 १०४) डॉ. वासुदेव, रांची  
 १०५) डॉ. दिवाकर प्रसाद, नवी मुंबई  
 १०६) सुश्री आभा दवे, मुंबई  
 १०७) सुश्री रश्मि सक्सेना, मुंबई  
 १०८) श्री मुनी राज सिंह, मुंबई  
 १०९) श्री प्रताप सिंह सोढी, इंदौर  
 ११०) श्री सुधीर कुशवाह, ग्वालियर  
 १११) श्री राजेंद्र कुमार सक्सेना, दिल्ली  
 ११२) श्री एन. के. शर्मा, नवी मुंबई  
 ११३) श्रीमती मीरा अग्रवाल, दिल्ली  
 ११४) श्री कुलवंत सिंह, मुंबई  
 ११५) डॉ. राजेश गुप्ता, भुसावल  
 ११६) श्री साहिल, वेरावल (गुज.)  
 ११७) डॉ. माधुरी छेड़ा, मुंबई  
 ११८) सुश्री मंगला रामचंद्रन, इंदौर  
 ११९) श्री पवन शर्मा, जुन्नारदेव, छिंदवाड़ा (म.प्र.)  
 १२०) डॉ. भाग्यश्री गिरी, पुणे  
 १२१) श्री तुहिन मिश्रा, मुंबई  
 १२२) सुश्री मधु प्रसाद, अहमदाबाद  
 १२३) श्रीमती मंजु लाल, दिल्ली  
 १२४) श्री सतीश गुप्ता, कानपुर  
 १२५) डॉ. बी. जे. शेटी, नवी मुंबई  
 १२६) श्रीमती कमलेश बख्शी, मुंबई  
 १२७) डॉ. विश्वर नाथ सक्सेना, मुंबई  
 १२८) श्री युगेश शर्मा, भोपाल  
 १२९) श्री सलीम अख्तर, गोंदिया (महा.)  
 १३०) डॉ. लक्ष्मण प्रसाद, जमशेदपुर  
 १३१) श्री मनोज सिन्हा, हजारीबाग (झारखंड)  
 १३२) श्री प्रशांत कुमार सिन्हा, देवघर (झारखंड)  
 १३३) श्रीमती मधु प्रकाश, मुंबई  
 १३४) श्री कृष्ण राघव, मुंबई  
 १३५) श्री सलाम बिन रज़ाक, मुंबई  
 १३६) डॉ. राकेश वर्मा, मुंबई  
 १३७) डॉ. मुकुल नारायण देव, मुंबई  
 १३८) डॉ. गजानन ल. भाले, न्यू पनवेल  
 १३९) श्री दयाशंकर 'सुबोध', दमोह  
 १४०) डॉ. रमेश शंकर, मुंबई  
 १४१) श्री आदर्श भार्गव, मुंबई  
 १४२) श्री प्रताप सिंह राठौर, अहमदाबाद  
 १४३) सुश्री ऊषा मेहता दीपा, चंबा (हि.प्र.)  
 १४४) श्री रमाकांत क्षितिज, कल्याण, ठाणे  
 १४५) श्रीमती प्रमिला शर्मा, मुंबई  
 १४६) श्रीमती इंदिरा नागर, नवी मुंबई  
 १४७) श्री कुमार शर्मा 'अनिल', छिंदवाड़ा  
 १४८) श्री विवेक द्विवेदी, रीवा  
 १४९) डॉ. आलोक यादव, छिंदवाड़ा  
 १५०) श्री सुभाष नीरव, नवी दिल्ली  
 १५१) डॉ. राजेश कुमार, धनबाद  
 १५२) श्री ताराचंद मकसाने, मुंबई  
 २५३) सुश्री वंदना शर्मा, मुंबई  
 १५४) डॉ. प्रीतिसागर, अल्मोड़ा  
 १५५) डॉ. कृ. भू. श्रीवास्तव, मुजफ्फरपुर  
 १५६) सुश्री सपना डोभाल, देहरादून  
 १५७) श्री गोविंद उपाध्याय, कानपुर  
 १५८) श्री कुंवर प्रेमिल, जबलपुर  
 १५९) डॉ. सुभाष त्रिपाठी, मुंबई  
 १६०) डॉ ए. के. जैन, मुंबई  
 १६१) श्री आर. के. मिश्र, मुंबई  
 १६२) श्री अशोक वशिष्ठ, मुंबई